जैनधर्म की कहानियाँ

(1008 श्री तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान)

भाग- 30

वर्तमान सहित पूर्व भव (10)

प्रकाशक

अखिल भा. जैन युवा फैडरेशन–खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन–सोनगढ़

श्री खेमराज गिड़िया
जन्म : 27 दिसम्बर, 1918
देहविलय : 4 अप्रेल, 2003

श्रीमती धुड़ीबाई गिड़िया
जन्म : 1922
देहविलय : 24 नवम्बर, 2012

आप दोनों के विशेष सहयोग से सन् १९८८ में **श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया** ग्रन्थमाला की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य एवं पौराणिक कथाएँ प्रकाशित करने की योजना का शुभारम्भ हुआ। इस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं –

जन्म : सन् १९१८ चांदरख (जोधपुर)
पिता : श्री हंसराज, **माता :** श्रीमती मेहंदीबाई

शिक्षा/व्यवसाय : प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही व्यवसाय में लग गए।
सत्-समागम : सन् १९५० मेंपूज्य श्रीकानजीस्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा : सन् १९५३ में मात्र ३४ वर्ष की आयु में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ़ में अल्पकालीन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेकर धर्मसाधन में लग गये।

विशेष : भावनगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने।

सन् १९५९ में खैरागढ़ में दिग. जिनमंदिर निर्माण कराया एवं पूज्य गुरुदेवश्री के शुभहस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग दिया।

सन् १९८८ में ७० यात्रियों सहित २५ दिवसीय दक्षिण तीर्थयात्रा संघ निकाला एवं व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्म-साधना करते थे।

हम हैं आपके बताए मार्ग पर चलनेवाले

पुत्र : दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल, प्रेमचंद एवं समस्त गिड़िया कुटुम्ब।

पुत्रियाँ : ब्र. ताराबेन एवं ब्र. मैनाबेन।

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का ४० पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग -३०)

(तीर्थंकर भगवान श्री पार्श्वनाथ)

लेखक :

ब्र. हरिभाई सोनगढ़

सम्पादक :

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
महावीर चौक, खैरागढ़ – ४९१ ८८१ (छत्तीसगढ़)
और
श्री कहान स्मृति प्रकाशन
कहान रश्मि, सोनगढ़ - 364250 (सौराष्ट्र)

प्रथम संस्करण - १००० प्रतियाँ
दशलक्षण पर्व, (सितम्बर, २०२४)

न्यौछावर : 15 रुपये मात्र

अनुक्रमणिका

1. तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ **9**
2. क्षेत्रपाल–पद्मावती पूजन के संबंध में विचार **68**
3. क्षेत्रपाल आदि की पूजन का निषेध **73**
4. श्री पार्श्वप्रभु गाथा **75**
5. श्री पार्श्वनाथ स्तुति **80**

प्राप्ति स्थान

१. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,** ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

२. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली**
कहाननगर, वेलतगांव रास्ता, लामरोड, देवलाली, नासिक-४२२ ४०१

३. **तीर्थधाम मंगलायतन,** पो.- सासनी-२०४ २१६ जिला- हाथरस (उ.प्र.)

४. **श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट,** आचार्य कुन्दकुन्द नगर,
सोनागिर सिद्धक्षेत्र-४७५ ६८५, जिला-दतिया (म.प्र.)

५. **श्री रमेशचंद जैन, जयपुर** मो. ८६१९९ ७५९६५, ९४१४७१७८१६

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर, १९८० को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत् स्वामीजी का सी. डी.व सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, मासिक विधान आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य ५१००१/- में, शिरोमणि संरक्षक सदस्य ३१००१/- में तथा परम संरक्षक सदस्य २१००१/- संरक्षक सदस्य ११००१/- में एवं परम सहायक सदस्य ५००१/- बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा। तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग १ से ३१ तक एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट, अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स) – इसप्रकार ४१ पुष्पों में लगभग ७ लाख ३४ हजार से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित होकर पूरे विश्व में धार्मिक संस्कार सिंचन का कार्य कर रही हैं।

प्रस्तुत संस्करण में पुराण पुरुष तेईसवें तीर्थंकर १००८ श्री पार्श्वनाथ प्रभु के पूर्वभवों के आधार पर उनका वैराग्य एवं ज्ञानबर्द्धक चरित्र-चित्रण किया गया है, जिसको लिपिबद्ध किया है अनेकों रचनाओं के सृजनकर्ता ब्र. हरिलालजी ने, हम उनके हृदय से आभारी हैं, इसका सम्पादन पण्डित रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम उनके भी आभारी हैं।

आशा है क्षमाविजय के नायक का चरित्र पढ़कर पाठकगण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन
अध्यक्ष

पं. अभय जैन शास्त्री
साहित्य प्रकाशन प्रमुख

पुस्तक प्राप्ति, सहयोग राशि एवं बिल भुगतान शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर ट्रस्ट, खैरागढ़ के नाम से भारतीय स्टेट बैंक, खैरागढ़ खाता क्रमांक 10743382296 IFSC-SBIN0000524 एवं आई डी बी आई खाता क्रमांक 526100100004648 IFSC-IBKL0000526 में जमा कराके, निम्न मो. नं. 9424111488 पर सूचना देकर रसीद प्राप्त कर सकते हैं।

विनम्र आदराञ्जली

जन्म
१/१२/१९७८
(खैरागढ़, म.प्र.)

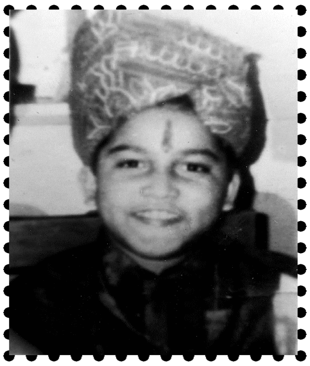

स्वर्गवास
२/२/१९९३
(दुर्ग पंचकल्याणक)

स्व. तन्मय (पुखराज) गिड़िया

अल्पवय में अनेक उत्तम संस्कारों से सुरभित, भारत के सभी तीर्थों की यात्रा, पर्वों में यम-नियम में कट्टरता, रात्रि भोजन त्याग, टी.वी. देखना त्याग, देवदर्शन, स्वाध्याय, पूजन आदि छह आवश्यक में हमेशा लीन, सहनशीलता, निर्लोभता, वैरागी, सत्यवादी, दान शीलता से शोभायमान तेरा जीवन धन्य है।

अल्पकाल में तेरा आत्मा असार-संसार से मुक्त होगा (वह स्वयं कहता था कि मेरे अधिक से अधिक ३ भव बाकी हैं।) चिन्मय तत्त्व में सदा के लिए तन्मय हो जावे – ऐसी भावना के साथ यह वियोग का वैराग्यमय प्रसंग हमें भी संसार से विरक्त करके मोक्षपथ की प्रेरणा देता रहे – ऐसी भावना है।

हम हैं

दादा	स्व. श्री कंवरलाल जैन	**दादी**	स्व. मथुराबाई जैन
पिता	श्री मोतीलाल जैन	**माता**	श्रीमती शोभादेवी जैन
बुआ	श्रीमती ढेलाबाई	**फूफा**	स्व. तेजमाल जैन
जीजा	श्री शुद्धात्मप्रकाश जैन	**जीजी**	सौ. श्रद्धा जैन, विदिशा
जीजा	श्री योगेशकुमार जैन	**जीजी**	सौ. क्षमा जैन, धमतरी

ग्रन्थमाला सदस्यों की सूची

परमशिरोमणि संरक्षक सदस्य

श्रीमती सूरजबेन अमुलखभाई सेठ, मुम्बई
एक मुमुक्षु परिवार दादर ह. जयसुखभाई खाटड़ीया
पारसमल महेन्द्रकुमार जैन, ह. सरिता बेन तेजपुर
श्री निर्मलजी बरडिया स्मृति ह. प्रभा जैन राजनांदगांव

शिरोमणि संरक्षक सदस्य

श्री हेमल भीमजी भाई शाह, लन्दन
श्री विनोदभाई देवसीभाई कचराभाई शाह, लन्दन
श्री स्वयं शाह ओस्त्रो ह. शीतल विजेन, लन्दन
श्रीमती ज्योत्सना बेन विजयकान्त शाह, अमेरिका
श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार, जयपुर
पं. श्री कैलाशचन्द पवनकुमार जैन, अलीगढ़
श्री जयन्तीलाल चिमनलाल शाह ह. सुशीलाबेन अमेरिका
श्रीमती सोनिया समीत भायाणी प्रशांत भायाणी, अमेरिका
श्रीमती ऊषाबेन प्रमोद सी. शाह, शिकागो
श्रीमती कुसुमबेन चन्द्रकान्तभाई शाह, मुलुण्ड

परमसंरक्षक सदस्य

झनकारीबाई खेमराज बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट,खैरागढ़
मीनाबेन सोमचन्द भगवानजी शाह, लन्दन
श्री अभिनन्दनप्रसाद जैन, सहारनपुर
श्रीमती ज्योत्सना महेन्द्र मणीलाल मलाणी, माटुंगा
ब्र. कुसुम जैन, कुम्भोज बाहुबली
श्रीमती पुष्पलता अजितकुमारजी, छिन्दवाड़ा
सौ. सुमन जैन जयकुमारजी जैन डोगरगढ़
स्व. मनहरभाई ह. अभयभाई इन्द्रजीतभाई, मुम्बई
श्री निलय ढेढिया, पार्ला मुम्बई
श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तत्त्वप्रचार समिति, दादर
पीनल बेन प्रकाशभाई संघवी, घाटकोपर
मीताबेन परिवार बोरीबली
श्रीमती समता-अमितकुमार जैन, कानपुर
श्रीमती पुष्पा बेन रायसीभाई गाड़ा, घाटकोपर
धरणीधर हीराचंद दामाणी, सोनगढ़
श्रीमती रीमा-विकाश सेठी अंधेरी ह. बेलाबेन सोनी

संरक्षक सदस्य

श्रीमती शान्तिदेवी कोमलचंद जैन, नागपुर
श्रीमती पुष्पाबेन कांतिभाई मोटाणी, बम्बई
श्रीमती हंसुबेन जगदीशभाई लोदरिया, बम्बई
श्रीमती लीलादेवी श्री नवरत्नसिंह चौधरी, भिलाई
श्रीयुत प्रशान्त-अक्षय-सुकान्त-केवल, लन्दन
श्रीमती पुष्पाबेन भीमजीभाई शाह, लन्दन
श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई एवं श्री दिनेशभाई, मोरबी
श्री महेशभाई, बम्बई, प्रकाशभाई मेहता, राजकोट
श्री रमेशभाई नेपाल, श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी
स्व.हीराबाई, हस्ते-श्री प्रकाशचंद मालू, रायपुर
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़
स्व. मथुराबाई कँवरलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती कंचनदेवी दुलीचन्द जैन गिड़िया, खैरागढ़
दमयन्तीबेन हरीलाल शाह चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई
श्रीमती रूपाबैन जयन्तीभाई ब्रोकर, मुम्बई
श्री जम्बूकुमार सोनी, इन्दौर
श्रीमती स्नेहलता ध.प. जैनबहादुरजी जैन, कानपुर
श्रीमती विमलाबाई सुरेशचंद जैन, कोलकाता
स्व. अमराबाई-घेवरचंद ह. नेम्द्र डाकलिया, नांदगांव
श्रीमती सुशीला बेन सुरेशभाई शाह, अहमदावाद
श्रीमती सुशीलाबाई उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर
श्री बाबूलाल तोताराम लुहाड़िया, भुसावल
श्री तुषार नलिनकांत देसाई, पालड़ी
श्री ज्योत्सना बेन भूपतभाई शाह, देवलाली
श्रीमती रसिला बेन हंसमुख भाई शाह, अमेरिका

परम सहयोगी सदस्य

श्रीमती शोभादेवी मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती ढेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
श्री शैलेषभाई जे. मेहता, नेपाल
ब्र. ताराबेन ब्र. मैनाबेन, सोनगढ़
श्रीमती चन्द्रकला गौतमचन्द बोथरा, भिलाई
श्रीमती गुलाबबेन शांतिलाल जैन, भिलाई
श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता
श्रीमती ममता-रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर
श्री प्रफुल्लचन्द संजयकुमार जैन, भिलाई
स्व. लुनकरण, झीपुबाई कोचर, कटंगी
श्रीमती पुष्पाबेन चन्दुलाल मेघाणी, कलकत्ता

स्व. कंकुबेन रिखबदास जैन ह. शांतिभाई, बम्बई
एक मुमुक्षुभाई, ह. सुकमाल जैन, दिल्ली
स्व. रामलाल पारख, ह. नथमल नांदगांव
श्रीमती जैनाबाई, भिलाई ह. कैलाशचन्द शाह
सौ. रमाबेन नटवरलाल शाह, जलगाँव
श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी, उज्जैन
श्रीमती पतासीबाई तिलोकचंद कोठारी, जालबांधा
श्री छोटालाल केशवजी भायाणी, बम्बई
श्रीमती जशवंतीबेन बी. भायाणी, घाटकोपर
स्व. भैरोदान संतोषचन्द कोचर, कटंगी
श्री तखतराज कांतिलाल जैन, कलकत्ता
श्रीमती सुधा सुबोधकुमार सिंघई, सिवनी
गुप्तदान, हस्ते – चन्द्रकला बोथरा, भिलाई
सौ. कमलाबाई कन्हैयालाल डाकलिया, खैरागढ़
श्री सुगालचंद विरधीचंद चोपड़ा, जबलपुर
श्रीमती सुनीतादेवी कोमलचन्द कोठारी, खैरागढ़
श्रीमती स्वर्णलता राकेशकुमार जैन, नागपुर
श्रीमती कंचनदेवी पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़
श्री शान्तिकुमार कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा
श्री छीतरमल बाकलीवाल, जैन ट्रेडर्स, पीसांगन
श्री किसनलाल देवड़िया ह. जयकुमारजी, नागपुर
श्री सुदीपकुमार गुलाबचन्द, नागपुर
सौ. शीलाबाई मुलामचन्दजी, नागपुर
सौ. मोतीदेवी मोतीलाल फलेजिया, अहमदाबाद
समकित महिला मंडल, डोंगरगढ़
श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, सागर
सौ. शांतिदेवी धनकुमार जैन, सूरत
श्री चिन्द्रूप शाह, ह. श्री दिलीपभाई बम्बई
स्व. फेफाबाई पुसालालजी, बैंगलोर
ललितकुमार डॉ. श्री तेजकुमार गंगवाल, इन्दौर
स्व. नोकचन्दजी, ह. केशरीचंद सावा सिल्हाटी
कु. वंदना पन्नालालजी जैन, झाबुआ
कु. मीना राजकुमार जैन, धार
सौ. वंदना संदीप जैनी ह.कु. श्रेया जैनी, नागपुर
सौ. केशरबाई ध.प. स्व. गुलाबचन्द जैन, नागपुर
जयवंती बेन किशोरकुमार जैन
श्री मनोज शान्तिलाल जैन
श्रीमती शकुन्तला अनिलकुमार जैन, मुंगावली
इंजी.आरती पिता श्री अनिलकुमार जैन, मुंगावली
श्रीमती पानादेवी मोहनलाल सेठी, गोहाटी
श्रीमती माणिकबाई माणिकचन्द जैन, इन्दौर
श्रीमती भूरीबाई स्व. फूलचन्द जैन, जबलपुर
श्री किशोरकुमार राजमल जैन, सोनगढ़
श्री जयपाल जैन, दिल्ली
श्री चेतना महिला मण्डल, खैरागढ़
श्रीमती किरण – एस.के. जैन, खैरागढ़
स्व.गैंदामल ज्ञानचन्द सुमतप्रसाद अनिल जैन, खैरागढ़
स्व. मुकेश गिड़िया स्मृति ह. सरला जैन, खैरागढ़
सौ. सुषमा जिनेन्द्रकुमार, खैरागढ़
श्रीमती श्रुति-अभयकुमार शास्त्री, खैरागढ़
सौ. अचरजकुमारी श्री निहालचन्द जैन, जयपुर
सौ. शोभाबाई भवरीलाल चौधरी, यवतमाल
सौ. ज्योति सन्तोषकुमार जैन, डोभी
श्री कस्तूरी बाई बल्लभदास जैन, जबलपुर
स्व.यशवंत छाजेड़ ह.श्री पन्नालाल छाजेड़, खैरागढ़
श्री आयुष्य जैन संजय जैन, दिल्ली
श्री सम्यक अरुण जैन, दिल्ली
श्री सार्थक अरुण जैन, दिल्ली
श्री केशरीमल नीरज पाटनी, ग्वालियर
श्री परागभाई हरिवदन सत्यपंथी, अहमदाबाद
श्रीमती नम्रता-प्रशम मोदी, सोनगढ़
श्री हेमलाल मनोहरलाल सिंघई, बोनकट्टा
स्व. दुर्गा देवी स्मृति ह. दीपचन्द चौपड़ा, खैरागढ़
शाह श्री कैलाशचन्दजी मोतीलालजी, भिलाई
श्रीमती प्रेक्षादेवी प्रवीणकुमारजी शास्त्री, रायपुर
लक्ष्मीबेन वीरचन्द शाह ह. शारदाबेन, सोनगढ़
श्रीमती चेतनाबेन पारुलभाई भायाणी, मद्रास
श्रीमती स्वाति-आशीष जैन, नवसारी
श्रीमती वर्षाबेन-निरंजनभाई, सुरेन्द्रनगर
श्रीमती रूवी-राजकुमार जैन, दुर्ग
श्रीमती विजया विजयकुमार जैन, विलासपुर
स्व. धरमचंद संचेती ह. किशोरकुमार संचेती, कटंगी
श्रीमती नेहाबेन-जितेन्द्र भाई गोगरी, माटुंगा
श्रीमती लक्ष्मीबेन शशांकभाई शाह, माटुंगा
श्री जयकुमार जैन, शिवपुरी
श्रीमती सुशीला बेन जयन्ती लाल गाला, माटुंगा
लक्ष्मी बेन, ब्र. कुन्ती बेन, सोनगढ़
कु. आरोही, श्रीमती परींदा-राहुल पारिख, न्यूजीलेण्ड
कु. श्रेया श्रीमती मीता-दीपक पारिख, मुम्बई

साहित्य प्रकाशन फण्ड

श्री प्रमेय अभय जैन, दिल्ली	5101/-
भाविशा आत्मदीप भायाणी, चेन्नई	5001/-
स्व. प्रवीण चंद मेहता, ह. ज्योति बेन मेहता, पार्ला	2001/-
श्रीमती कुन्तल बेन पराग भाई, घाटकोपर	2001/-
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़	1001/-
ज्योति बेन प्रवीण चंद मेहता, पार्ला	1001/-
स्व. ब्र. जमनाबेन स्मृति श्रीमती श्वति-वंदना छाजेड़, खैरागढ़	701/-
श्रीमती स्वर्णा प्रदीपकुमार जैन, खैरागढ़	701/-
श्रीमती शारदा बेन सेठ, मुम्बई	501/-
ब्र. ताराबेन मैनाबेन, सोनगढ़	501/-
स्व. श्रीमती कंचनबाई ह. श्री दुलीचंद-कमलेश जैन, खैरागढ़	501/-
भीति सम्यक् मेहता, जामनगर	501/-
हंसा बेन भद्र कुमार मेहता, जामनगर	501/-
श्रीमती शारदा जैन राजेन्द्र कुमार जैन, कटनी	501/-
ढ़ेलाबाई चैरीटेवल ट्रस्ट ह. श्री मोतीलाल जैन, खैरागढ़	501/-
झनकारीबाई खेमराज बाफना चैरीटेवल ट्रस्ट, खैरागढ़	501/-
श्रीमती पूजा साकेत शास्त्री जयपुर	201/-

धर्म वृद्धों की औषधि है।
धर्म युवाओं को रसायन है।
धर्म बच्चों को टॉनिक है।

तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ

वन्दों पारसनाथ, महारस के जो दाता।
प्रभु पारस-स्पर्श से, जीवन उत्तम बन जाता॥

यहाँ तीर्थंकर भगवान श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र के दस भव की पवित्र कथा प्रारम्भ करते हुए आनन्द होता है। यह कथा आचार्य गुणभद्रस्वामी रचित उत्तरपुराण तथा पण्डित दौलतरामजी रचित पार्श्वनाथ चरित्र आदि के आधार से लिखी गई है; तदुपरान्त अन्य भी आगम-अध्यात्म शास्त्रों के अध्ययन के प्रसाद से प्राप्त हुए उत्तम भाव भी इस कथा में गूँथे हैं; पार्श्वनाथ स्वामी के दस भव की **यह कथा उत्तम क्षमाधर्म का बोध देती है और शत्रु के प्रति भी मध्यस्थ रहकर हमें आत्मसाधना करना सिखाती है।** साधर्मी बन्धुओ! तुम यह भगवान का जीवनचरित्र आनन्द से पढ़ना और उसमें से उत्तम संस्कार प्राप्त करना। बालकों में उच्च धार्मिक संस्कार डालने के लिये ऐसे साहित्य की आज विशेष आवश्यकता है; उस ओर जितना लक्ष्य दिया जायेगा उतनी ही समाज की उन्नति होगी। अब पार्श्वप्रभु के दस भव की कथा प्रारम्भ होती है।

पूर्वभव-नौवाँ : दो भाई – मरुभूति और कमठ

यद्यपि प्रत्येक जीव के पूर्वभव अनंत हैं, फिर भी जिनके पूर्वभव

सीमित रह जाते हैं उनके पूर्वभव कहने में आ जाते हैं। इसी अपेक्षा यहाँ श्री पार्श्वनाथ प्रभु के नौ पूर्वभवों की चर्चा की जा रही है।

चतुर्थकाल में पोदनपुर में राजा अरविन्द राज्य करते थे; उनके मंत्री के दो पुत्र थे – उनमें बड़े पुत्र का नाम कमठ था और छोटे का नाम मरुभूति था। यह मरुभूति ही अपने पार्श्वनाथ भगवान का जीव है। यह उनका नौंवा पूर्वभव है।

कमठ और मरुभूति दोनों सगे भाई थे, कमठ क्रोधी और दुराचारी था; मरुभूति शान्त और सरल। जिसप्रकार एक ही लोहे में से तलवार भी बनती है और बख्तर भी बनता है; तलवार काटती है और बख्तर रक्षा करता है; उसीप्रकार एक ही माता के दो पुत्र; उनमें एक कुपुत्र है और दूसरा सुपुत्र। क्रोधी कमठ सदा दोष देखता है और मरुभूति विनय से सद्‌गुण देखता है। प्रिय पाठको ! आगे चलकर तुम्हें ज्ञात होगा कि **'क्रोध से जीव का कितना अहित होता है और शान्ति एवं सद्‌गुणों से वह कितना सुखी होता है।'**

अरविन्द राजा के मंत्री ने एक बार सिर में श्वेत बाल देखकर मुनि के निकट जिनदीक्षा ले ली। राजा ने उसके पुत्र मरुभूति को मंत्री बना दिया। बड़ा भाई कमठ क्रोधी और दुष्ट-प्रकृति होने से उसे मंत्रीपद नहीं मिला और छोटे भाई को मंत्रीपद प्राप्त हुआ, जिससे कमठ के मन में उसके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई।

एकबार राजा अरविन्द किसी दूसरे राजा से युद्ध करने गये तब मंत्री मरुभूति को साथ ले गये। राजा और मंत्री दोनों के बाहर जाने से दुष्ट कमठ प्रजा को हैरान करने लगा। वह ऐसा वर्तन करने लगा, जैसे वह स्वयं ही राजा हो। एक दिन वह कमठ अपने छोटे भाई मरुभूति की अति सुन्दर पत्नी को देखकर, उस पर मोहित हो गया। उसने मरुभूति की पत्नी को कपटपूर्वक एक फुलवाड़ी में बुलाया और उसके साथ दुराचार

किया। कुछ दिन बाद राजा अरविन्द युद्ध का भार मंत्री मरुभूति को सौंपकर स्वयं पोदनपुर लौट आये। वहाँ लोगों के मुँह से जब कमठ के दुराचार की कथा सुनी तब उन्हें विचार आया कि ऐसे अन्यायी दुराचारी का हमारे राज्य में रहना उचित नहीं है। उन्होंने उसका सिर मुँड़ाकर काला मुँह करके, गधे पर बैठाकर नगर से बाहर निकलवा दिया। पापी कमठ की ऐसी दुर्दशा देखकर नगरवासी कहने लगे कि देखो, **पापी जीव अपने पाप का कैसा फल भोग रहा है; इसलिए पापों से दूर रहो।**

राजा ने कमठ को नगर से निष्कासित कर दिया, जिससे वह बड़ा दु:खी हुआ और तापस लोगों के मठ में जाकर वहाँ बाबा बनकर रहने लगा तथा कुगुरुओं की सेवा करने लगा। उसे कुछ ज्ञान तो था नहीं, वैराग्य भी नहीं था। अज्ञान एवं क्रोध के कारण वह एक बड़ा पत्थर हाथों में उठाकर खड़े-खड़े तप करता था। इतने में क्या हुआ ? वह जानने से पूर्व हम उसके भाई मरुभूति के हाल-चाल जानने हेतु उनके पास चलें।

युद्ध में गया मरुभूति जब लौटकर आया और उसे ज्ञात हुआ कि उसके बड़े भाई कमठ को राजा ने नगर से निष्कासित कर दिया है, तब उसे बड़ा दु:ख हुआ। भाई पर क्रोध न करके मरुभूति ने उससे मिलने तथा घर वापिस लाने का विचार किया और वह उसकी खोज करने निकल पड़ा। ढूँढते-ढूँढते अन्त में उसे कमठ का पता चल गया और अपना भाई बाबा बनकर मिथ्या तप कर रहा है, यह देखकर उसे खूब दु:ख हुआ। वह कमठ के पास जाकर हाथ जोड़कर बोला – हे भाई ! मुझे तुम्हारे बिना अच्छा नहीं लगता, जो हुआ सो हुआ; अब आप इस मिथ्यावेष को छोड़कर मेरे साथ घर लौट चलो। आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हो, इसलिये मुझ पर क्रोध न करके मुझे क्षमा कर दो। ऐसा कहकर मरुभूति ने भाई कमठ को वन्दन किया।

परन्तु दुष्ट कमठ का क्रोध तो और भी बढ़ गया। इसी के कारण मैं इतना अपमानित हुआ हूँ और अब यहाँ भी मुझे दु:खी करने आया है। मेरे पाप की बात यह यहाँ सबसे कह देगा तो ? ऐसा विचार आने से उसने हाथों में उठाये हुए उस पत्थर का प्रहार मरुभूति के सिर पर किया। पत्थर लगते ही मरुभूति का सिर फट गया; रक्त बहने लगा और कुछ ही देर में उसका प्राणान्त हो गया।

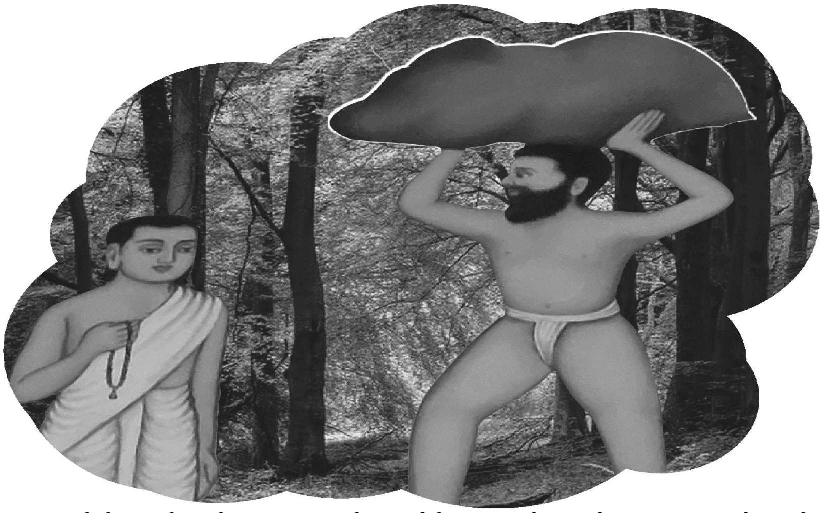

अरे रे ! क्रोध के कारण सगे भाई के हाथ से भाई की मृत्यु हुई !...**रे संसार ! जिसप्रकार सर्प से कभी अमृत प्राप्त नहीं होता, उसीप्रकार क्रोध से कभी सुख नहीं मिलता। क्षमा जीव का स्वभाव है, उसके सेवन से ही सुख की प्राप्ति होती है।**

पत्थर के प्रहार से जब मरुभूति की मृत्यु हो गई तब उसे भयंकर वेदना के कारण आर्त्तध्यान हो गया। क्योंकि अभी उसे आत्मज्ञान तो हुआ नहीं था; इसलिए आर्त्तध्यान से मरकर वह सम्मेदशिखर के निकट वन में विशाल हाथी हुआ।

[प्रिय पाठको ! पार्श्वनाथ भगवान का जीव इस हाथी के भव में ही आत्मज्ञान प्राप्त करनेवाला है। उसकी सुन्दर कथा आप कुछ ही समय

में पढ़ेंगे; पहले यह जान लें कि – कमठ का तथा राजा अरविन्द का क्या हुआ !]

कमठ ने अपने भाई को पत्थर से मार डाला – यह बात जब आश्रम के तापसों ने जानी तब उन्होंने कमठ को पापी मानकर उसे वहाँ से निकाल दिया। पापी कमठ चोरों के गिरोह में सम्मिलित होकर चोरी करने लगा। एकबार चोरी करते हुए पकड़े जाने पर उसे भयंकर मार पड़ी, जिससे वह बहुत दु:खी हुआ; परन्तु उसके भावों में कोई परिवर्तन नहीं आया। अन्त में, क्रोध से मरकर वह कुक्कट नाम का भयंकर विषैला सर्प हुआ।

पूर्वभव आठवाँ – हाथी और सर्प

मरुभूति तो मरकर हाथी हो गया; परन्तु राजा अरविन्द को उसकी कोई खबर नहीं मिलने से वह चिन्तित रहने लगा कि मरुभूति अभी तक क्यों नहीं लौटा ? उन्हीं दिनों वहाँ एक अवधिज्ञानी मुनिराज का आगमन हुआ। उनका उपदेश सुनकर राजा को हार्दिक प्रसन्नता हुई। राजा ने उनसे पूछा कि हमारा मंत्री मरुभूति कहाँ है? और अभी तक क्यों नहीं आया?

मुनिराज ने कहा – हे राजन् ! मरुभूति को तो उसके भाई कमठ ने मार डाला है और उसे हाथी की पर्याय मिली है तथा कमठ भी मरकर सर्प हुआ है। यह सुनकर राजा को अत्यन्त दु:ख हुआ। वह विचारने लगा कि अरे ! कैसा है यह संसार ! दुष्ट कमठ के संग से मरुभूति भी दु:खी हुआ।

मुनिराज ने समझाया कि हे राजन् ! इस संसार में जीव जब तक सम्यग्ज्ञान नहीं करता तब तक उसे ऐसे जन्म-मरण होते ही रहते हैं। **अत: अपने हित के लिये दुष्ट अज्ञानी जीवों का संग छोड़कर ज्ञानी-धर्मात्माओं का संग करना योग्य है।**

राजा उदास चित्त से महल में आया। एकबार वह राजमहल की

छत पर बैठा-बैठा मुनिराज के उपदेश का स्मरण करके वैराग्य के विचार कर रहा था। इतने में एक घटना हुई – आकाश में रंग-बिरंगे मेघ एकत्रित होने लगे और कुछ ही देर में ऐसी रचना हो गई मानों एक सुन्दर जिनमन्दिर हो, अतिसुन्दर दृश्य था वह; अहा ! आकाश में ऐसे रमणीक जिनालय की रचना। उसे देखकर राजा अरविन्द को विचार आया कि मैं भी अपने राज्य में ऐसे ही सुन्दर जिनमन्दिर का निर्माण कराऊँगा। ऐसे विचार आते ही उसने उस मन्दिर की आकृति बना लेने की तैयारी की, परन्तु उसने कलम हाथ में ली कि देखते ही मेघ रचना बिखर गई और मन्दिर की आकृति विलीन हो गई।

यह देखकर राजा विचार करने लगा – **अरे ! ऐसा अस्थिर संसार। ऐसे क्षणभंगुर संयोग। यह राजपाट, यह रानियाँ, यह शरीरादि सब संयोग इन मेघों की भाँति बिखर जानेवाले-विनाशीक हैं।** अरे, ऐसे अस्थिर इन्द्रिय-विषयों में दिन-रात लगे रहना, वह जीव को शोभा नहीं देता। यह शरीर नाशवान है और यह भोग भवरोग को बढ़ाने वाले हैं। जिसे अपना हित करना हो उसे इन भोगों की लालसा में जीवन गँवाना उचित नहीं है। जिसप्रकार यह मेघ-रचना क्षणभर में बिखर गई, उसीप्रकार मैं भी अविलम्ब इसी क्षण संसार को छोड़कर मुनि बनूँगा और आत्मध्यान द्वारा कर्मरूपी बादलों को बिखेर दूँगा।

इसप्रकार अत्यन्त वैराग्यपूर्वक राजपाट छोड़कर राजा अरविन्द वन में चले गये और निर्ग्रन्थ गुरु के निकट दीक्षा लेकर मुनि हुए। इन्हीं अरविन्द मुनिराज द्वारा हाथी (मरुभूति) का जीव आत्मज्ञान प्राप्त करता है, उसका रोमांचक वर्णन आप अगले प्रकरण में पढ़ेंगे।

हाथी के भव में सम्यक्त्व-प्राप्ति

सम्मेदशिखर....अपने जैनधर्म का महान तीर्थ है। वहाँ से अनन्त जीव सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं; उसकी यात्रा करने से सिद्धपद का स्मरण

होता है। अनेक मुनि वहाँ आत्मध्यान करते हैं। ऐसे महान तीर्थ सम्मेदशिखर की यात्रा हेतु एक विशाल संघ चला जा रहा है। उस यात्रासंघ में अनेक मुनि तथा हजारों श्रावक हैं; कितने ही छोटे-छोटे बालक भी उत्साहपूर्वक यात्रा करने जा रहे हैं। अरविन्द मुनिराज भी संघ के साथ विहार कर रहे हैं। रत्नत्रयधारी वे मुनिराज धर्मकथा कहते हैं और आत्मा का स्वरूप समझाते हैं, जिसे सुनकर सबको बड़ा आनन्द होता है। कभी भक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने का अवसर प्राप्त होने से श्रावकों को महान हर्ष होता है, समस्त साधर्मीजन परस्पर धर्मचर्चा और पंचपरमेष्ठी का गुणगान करते हुए सम्मेदशिखर की ओर चले जा रहे हैं। चलते-चलते उस संघ ने एक वन में पड़ाव डाला। शान्त-सुन्दर वन हजारों मनुष्यों के कोलाहल से गूँज उठा। जंगल में मानों एक नगर बस गया। मुनिराज अरविन्द एक वृक्ष के नीचे आत्मध्यान में बैठे हैं। इतने में एक घटना हुई। क्या हुआ ? वह सुनो।

एक विशाल हाथी पागल होकर इधर-उधर दौड़ने लगा, जिससे लोगों में भगदड़ मच गई। कौन था वह हाथी ? कुछ ही भव पश्चात् वही पार्श्वनाथ भगवान बनने वाला है। जो पूर्वभव में मरुभूति मंत्री था, वही मरकर यह हाथी हुआ है; उसका नाम है वज्रघोष। वह हाथी इस वन का राजा है और स्वच्छन्द रहकर विचरता है। सुन्दर वन में एक सरोवर है जिसमें वह प्रतिदिन स्नान करता है, वन के मिष्ट फल-फूल खाता है और हथिनियों के साथ क्रीड़ा करता है। घने निर्जन वन में इतने अधिक मनुष्य और वाहन उस हाथी ने कभी देखे नहीं थे; इसलिए वह एकदम भड़क उठा और पागल होकर लोगों को कुचलने लगा। लोग चिल्लाते और हाहाकार करते इधर-उधर दौड़ रहे थे। कितनों को उसने पैरों से कुचला तो कितनों को सूँढ़ में उठा-उठाकर पछाड़ दिया। रथों को तोड़ डाला और वृक्षों को उखाड़ दिया। अनेक लोग भयभीत होकर रक्षा हेतु मुनिराज की शरण में जा पहुँचे।

पागल हाथी चारों ओर हाहाकार फैलाता हुआ, चिंघाड़ता हुआ उधर आया, जहाँ अरविन्द मुनिराज विराजते थे। लोग डर के मारे काँप उठे कि जाने यह पागल हाथी मुनिराज को क्या कर डालेगा ? मुनिराज तो शान्त होकर बैठे हैं। उन्हें देखते ही सूँढ़ उठाकर वह उनकी ओर दौड़ा, परन्तु अरविन्द मुनिराज के वक्ष में एक चिन्ह देखते ही वह एकदम शान्त हो गया। उसे लगा कि अरे, इन्हें तो मैंने कहीं देखा है, यह तो मेरे कोई परिचित और हितैषी लगते हैं। ऐसा विचारते हुए वह एकदम शान्त खड़ा रहा; उसका पागलपन मिट गया और मुनिराज के सन्मुख सूँढ़ झुकाकर बैठ गया। लोग आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे कि अरे, मुनिराज के सामने आते ही इसे क्या हो गया ? इस घटना से प्रभावित होकर लोग मुनिराज के आस-पास एकत्रित हो गये। मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा हाथी के पूर्वभव को जान लिया और शान्त बैठे हुए हाथी को सम्बोध कर कहा – अरे, बुद्धिमान गजराज ! यह पागलपन

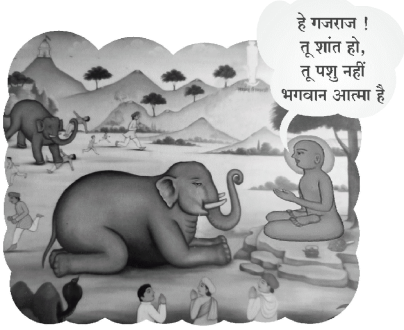

तुझे शोभा नहीं देता। यह पशुता और हिंसा छोड़ दे। पूर्वभव में तू हमारा मंत्री मरुभूति और मैं राजा अरविन्द था। मैं इस भव में मुनि हुआ हूँ। मेरा मंत्री होकर भी तू आत्मा को भूला और आर्त्तध्यान करने से तुझे यह पशुपर्याय प्राप्त हुई। अब चेत और आत्मा की पहिचान कर।

मुनिराज के कल्याणकारी सम्बोधन से उसे वैराग्य हो गया और अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ। अपने दुष्कर्म के लिये उसे तीव्र पश्चाताप होने लगा; उसकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। वह विनयपूर्वक मस्तक झुकाकर मुनिराज के सन्मुख देख रहा था। प्राकृतिक रूप से उसका ज्ञान इतना विकसित हुआ कि वह मनुष्य की भाषा समझने

लगा और मुनिराज की वाणी सुनने की जिज्ञासा जागृत हो उठी।

मुनिराज ने जब जाना कि इस हाथी के परिणाम विशुद्ध हुए हैं, उसे आत्मा समझने की तीव्र जिज्ञासा जागृत हुई है और वह तो एक भावी तीर्थंकर है, तब अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक वे हाथी को उपदेश देने लगे – अरे गजराज! तू शान्त हो; यह पशुपर्याय कहीं तेरा स्वरूप नहीं है। तू तो शरीर से भिन्न चैतन्यमय आत्मा है; आत्मा को जाने बिना तूने अनेक भवों में अनेक दु:ख भोगे हैं; इसलिए अब आत्मा के स्वरूप को समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर। सम्यग्दर्शन ही जीव को महान सुखकारी है। **राग और ज्ञान को एकमेक अनुभवने का अविवेक तू छोड़ छोड़ ! तू प्रसन्न हो, सावधान हो और 'सदा उपयोगरूप स्वद्रव्य ही मेरा है' – ऐसा अनुभव कर।** उससे तुझे अति आनन्द होगा। तू निकटभव्य है, इसलिए आज ही ऐसा अनुभव कर।

हाथी बड़ी भक्ति से सुन रहा है। मुनिराज के श्रीमुख से आत्मस्वरूप की तथा सम्यग्दर्शन की बात सुनकर उसे अत्यन्त हर्षोल्लास हो रहा है; उसके परिणाम अधिकाधिक निर्मल होते जा रहे हैं, उसके अन्तर में सम्यग्दर्शन की तैयारी चल रही है।

मुनिराज उसे आत्मा का शुद्धस्वरूप बतलाते हैं – रे जीव ! तेरा आत्मा अनन्त गुणरत्नों का भण्डार है। यह हाथी का विशाल शरीर तो पुद्गल है, यह कहीं तू नहीं है, तू तो ज्ञानस्वरूप है तेरे ज्ञानस्वरूप में पाप तो नहीं है, किन्तु पुण्य का शुभराग भी नहीं है; तू तो वीतरागी आनन्दमय है। ऐसे अपने स्वरूप को अनुभव में ले।

ऐसे अनेक प्रकार से मुनिराज ने सम्यग्दर्शन का उपदेश दिया; जिसे सुनकर हाथी के परिणाम अन्तर्मुख हुए और अन्तर में अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप का अनुभव/प्रतीति करने से उसे सम्यग्दर्शन हो गया, 'आत्म-उपयोग सहजरूप से शीघ्रतापूर्वक अपने स्वरूपोन्मुख

होने से सहज निर्विकल्प स्वरूप अनुभव में आया। चैतन्यप्रभु अपने 'एकत्व' में आकर निजानन्द में डोलने लगा। परमानन्द का अनुभव हुआ। उसे ऐसा भासित हुआ कि 'अहा ! अमृत का सागर मेरे आत्मा में लहरा रहा है। परभावों से भिन्न सच्चे सुख का अनुभव आत्मा में हो रहा है। क्षणमात्र ऐसे आनन्द के अनुभव से अनन्तभव की थकान उतर जाती है।' ऐसे आत्मा का बारम्बार अनुभव करने का उसे मन हुआ, उस अनुभव की अचिन्त्य अपार महिमा का कोई पार नहीं था। वाह, आत्मा का स्वरूप कोई अद्भुत है ! परमतत्त्व को पाकर मैंने चैतन्यप्रभु को अपने में ही देखा।' – इसप्रकार सम्यग्दर्शन होने से हाथी के आनन्द का कोई पार नहीं रहा। उसकी आनन्दमय चेष्टायें तथा आत्मशान्ति देखकर मुनिराज को भी लगा कि इस हाथी को आत्मज्ञान हुआ; भव का उच्छेद करके वह मोक्ष के मार्ग में आया है। मुनिराज ने प्रसन्न होकर, हाथ उठाकर हाथी को आशीर्वाद दिया। संघ के हजारों लोग भी यह दृश्य देखकर अति हर्षित हुए। एक क्षण में यह क्या हो गया, वे सब आश्चर्य से देखने लगे।

आत्मज्ञान हो जाने से हाथी अत्यन्त भक्तिभाव से मुनिराज का उपकार मानने लगा। अरे, पूर्वकाल में आत्मा को जाने बिना आर्त्तध्यान करके मैंने पशुपर्याय पायी; परन्तु अब इन मुनिराज के प्रताप से मुझे आत्मज्ञान हुआ है और अब आत्मा के ध्यान द्वारा मैं परमात्मा होऊँगा। ऐसा विचार कर वह हाथी सूँढ झुका-झुकाकर मुनिराज को नमस्कार करने लगा।

देखो तो सही, बन्धुओ ! अपना जैनधर्म कितना महान है कि उसका सेवन करके एक पशु भी आत्मज्ञान पाकर परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति है। ऐसा अपना जैनधर्म बतलाता है। वाह जैनधर्म, वाह !

मुनिराज के पास सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझकर, हाथी के साथ-साथ दूसरे भी अनेक जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। जिसप्रकार तीर्थंकर अकेले मोक्ष में नहीं जाते, दूसरे अनेक जीव उनके साथ मोक्ष प्राप्त करते हैं; उसीप्रकार यहाँ जब तीर्थंकर के आत्मा ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, तब दूसरे अनेक जीव भी उनके साथ सम्यक्त्व को प्राप्त हुए और चारों ओर धर्म की जय-जयकार हो गई। कुछ ही समय पूर्व जो हाथी पागल होकर हिंसक बन गया था, वही अब आत्मज्ञानी होकर अहिंसक बन गया और मुनिराज से पुन: पुन: धर्मश्रवण करने हेतु उनकी ओर आतुरता से देखने लगा। अनेक श्रावक भी उपदेश सुनने बैठे थे।

श्री मुनिराज ने मुनिधर्म तथा श्रावक धर्म का उपदेश दिया – सम्यग्दर्शन एवं आत्मज्ञान के उपरान्त जब चारित्रदशा होती है अर्थात् आत्मा का विशेष अनुभव होता है तब जीव को मुनिदशा होती है। वे मुनि उत्तमक्षमादि दशधर्मों का पालन करते हैं और हिंसादिक पाँच पाप उनके किंचित् नहीं होते, इसलिए उनके पाँच महाव्रत होते हैं और सम्यग्दर्शन होने पर भी जो जीव मुनि नहीं हो सकते, वे श्रावक धर्म का पालन करते हैं; उनको आत्मज्ञान सहित अहिंसादि पाँच अणुव्रत होते हैं। तिर्यंचगति में भी श्रावक धर्म का पालन हो सकता है, इसलिए हे गजराज! तुम श्रावकधर्म को अंगीकार करो।

मुनिराज के पास धर्म का उपदेश सुनकर अनेक जीवों ने व्रत धारण किये। हाथी को भी भावना जागृत हुई कि यदि मैं मनुष्य होता तो मैं भी उत्तम मुनिधर्म अंगीकार करता। इसप्रकार मुनिधर्म की भावनासहित उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके उसने पाँच अणुव्रत धारण किये, वह श्रावक हो गया।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके व्रतधारी हुआ वह वज्रघोष हाथी बारम्बार मस्तक झुकाकर मुनिराज को नमन करने लगा। सूँढ़ ऊँची-नीची करके

उपकार मानने लगा। हाथी की ऐसे धर्मचेष्टा देखकर श्रावक बहुत सन्तुष्ट हुए और जब मुनिराज ने घोषणा की कि यह हाथी का जीव आत्मोन्नति करते-करते भरतक्षेत्र में तेईसवाँ तीर्थंकर होगा – तब तो सब के आनन्द का पार ही न रहा। हाथी को धर्मात्मा जानकर श्रावक उसे प्रेमपूर्वक निर्दोष आहार देने लगे।

यात्रासंघ ने कुछ समय उस वन में रुककर फिर उन अरविन्द मुनि सहित सम्मेदशिखर की ओर प्रस्थान किया। हाथी का जीव कुछ भवों के पश्चात् इसी सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करनेवाला है। तब वह हाथी भी विनयपूर्वक अपने गुरु को विदा करने हेतु कुछ दूर तक पीछे-पीछे चलता रहा। अन्त में मुनिराज को पुन: पुन: वन्दन करके गद्गद् होकर अपने वन की ओर लौट चला।

अब वह पाँच व्रतों सहित निर्दोष जीवन जी रहा है। स्वयं जिस शुद्ध आत्मा का अनुभव किया उसकी बारम्बार भावना करता है। किसी भी जीव को सताता नहीं है, त्रसहिंसा हो ऐसा आहार नहीं करता; शान्तभाव से रहकर अपना पेट भरता, पेड़-पत्ते उतने ही तोड़ता जितने खाना हों; कभी-कभी उपवास भी करता है। वन के प्राणियों के साथ शान्ति से रहता है और गुरु के उपकार का बारम्बार स्मरण करता है। हाथी की ऐसी शान्त चेष्टा देखकर दूसरे हाथी उसकी सेवा करते हैं; वन के बन्दर तथा अन्य पशु भी उससे प्रेम करते हैं।

पूर्वभव का उसका भाई कमठ, जो क्रोध से मरकर विषधर-सर्प हुआ है, वह इसी वन में रहता है और जीव-जन्तुओं को मारकर खाता है तथा नवीन पापबंध करता है।

एक दिन प्यास लगने से वह हाथी सरोवर के निकट आया। सरोवर के किनारे वृक्षों पर अनेकों बन्दर रहते थे। वे उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

सरोवर का स्वच्छ जल पीने के लिये वह हाथी कुछ भीतर तक गया कि उसका पाँव कीचड़ में फँस गया। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह निकल नहीं सका। तब उसने आहार-जल का त्याग करके समाधिमरण की तैयारी की। वह पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके आत्मा का चिन्तन करने लगा। **वैराग्यपूर्वक वह ऐसा विचारने लगा कि अरे, अज्ञान से कुमरण तो मैंने अनन्तबार किये; किन्तु यह अवतार सफल है कि जिसमें समाधिमरण का सुअवसर प्राप्त हुआ है।** श्री मुनिराज ने मुझ पर महान कृपा करके देह से भिन्न आत्मस्वरूप मुझे समझाया, मेरे चैतन्य निधान मुझे बतलाये। उनकी कृपा से मैंने अपना निजवैभव अपने आत्मा में देखा। बस, अब इस देह से भिन्न आत्मा की भावना द्वारा मैं समाधिमरण करूँगा।

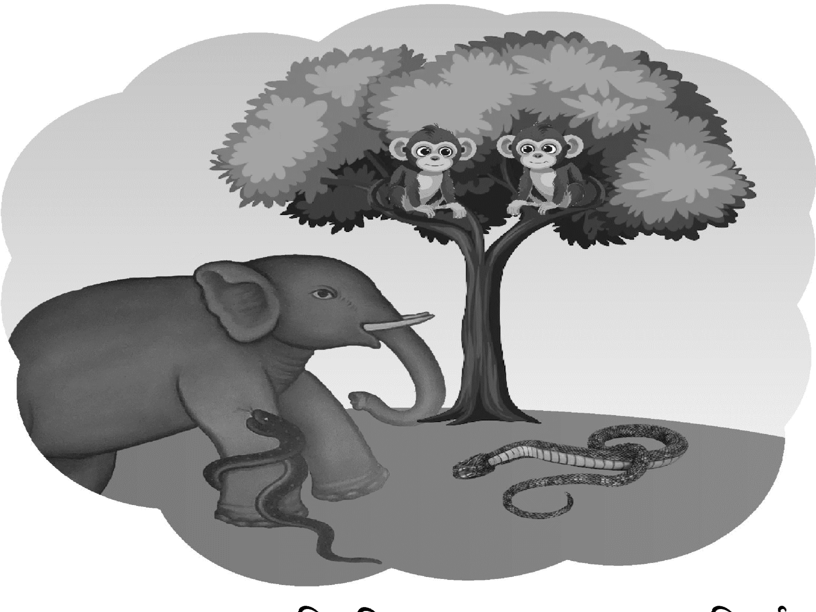

जब एक पशु समाधि की भावना भाता हुआ समाधिपूर्वक देह का त्याग कर सकता है तब फिर हम क्यों नहीं ? विचार करना चाहिए।

हाथी को कीचड़ से फँसा देखकर वन के बन्दर उसे बचाने के लिये किलकारियाँ मारने लगे, परन्तु वे छोटे-छोटे बन्दर उसे कैसे बाहर निकालते ? इतने में सर्प हुआ कमठ का जीव फुँकारता हुआ वहाँ आया; हाथी को देखते ही पूर्वभव के वैर संस्कार के कारण उसे तीव्र क्रोध आया और दौड़कर हाथी को दंश मार दिया। कालकूट विषैले सर्प के दंश से हाथी को विष चढ़ गया और कुछ ही देर में उसका प्राणान्त हो गया; परन्तु इस बार उसने पहले की भाँति आर्त्तध्यान नहीं किया, इस बार तो आत्मा के ज्ञानसहित धर्म की उत्तम भावना भाते-भाते उसने समाधिमरण किया और शरीर को त्यागकर बारहवें स्वर्ग में देव हुआ।

सर्प ने हाथी को डस लिया देखकर बन्दरों को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने सर्प को मार डाला। पापी सर्प आर्त्तध्यान से मरकर पाँचवें नरक में पहुँचा। किसी समय जो दोनों सगे भाई थे, उनमें से पुण्य-पाप के फलानुसार एक तो स्वर्ग में गया और दूसरा नरक में।

तीर्थंकरादि महापुरुषों के जीवन से आत्मा की आराधना सीखना है। पाप के फल में नरकादि के भयंकर दु:ख सहना पड़ते हैं, इसलिए उन्हें छोड़ना और पुण्य के फल में स्वर्गादि गतियाँ प्राप्त होती हैं **तथा आत्मा के ज्ञानसहित वीतराग भाव से मोक्ष मिलता है – ऐसा जानकर उसकी उपासना करो।**

:: पूर्वभव-सातवाँ ::

हाथी बारहवें स्वर्ग में और सर्प पाँचवें नरक में

अपने चरित्र नायक का जीव पहले मरुभूति था, फिर हाथी हुआ और आत्मज्ञान प्राप्त किया। वहाँ से समाधिमरण करके बारहवें स्वर्ग में देव हुआ है, उसका नाम है शशिप्रभ। स्वर्ग की दिव्यविभूति देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया और अवधिज्ञान से जान लिया कि मैंने हाथी

के पूर्वभव में धर्म की आराधना सहित जो व्रतों का पालन किया था उसका यह फल है – ऐसा जानकर उसे धर्म के प्रति विशेष सम्मान की भावना हुई। पूर्वभव में आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले मुनिराज के उपकार का पुन: पुन: स्मरण किया; पश्चात् स्वर्ग में विराजमान शाश्वत जिनबिम्ब की पूजा की। स्वर्गलोक की रत्नमय शाश्वत वीतरागमूर्ति के दर्शन करते ही उसे अतिशय आनन्द हुआ और ऐसे ही अपने आत्मा की भावना की। वह असंख्यात वर्षों तक स्वर्गलोक में रहा। वहाँ बाह्य में अनेक प्रकार के कल्पवृक्षों से सुख-सामग्री प्राप्त होती थी और अन्तर में चैतन्य-कल्पवृक्ष के सेवन से वह सच्चे सुख का अनुभव करता था। देखो तो सही, जैनधर्म के प्रताप से एक पशु भी देव हो गया और कुछ ही काल पश्चात् तो वह भगवान होगा। अहा ! जिसके प्रताप से पशु भी परमात्मा बन जाते हैं – ऐसे जैनधर्म की जय हो ! हमें भी संसार से छूटकर परमात्मा बनने के लिये जैनधर्म में कहे हुए आत्मा का स्वरूप जानना चाहिये।

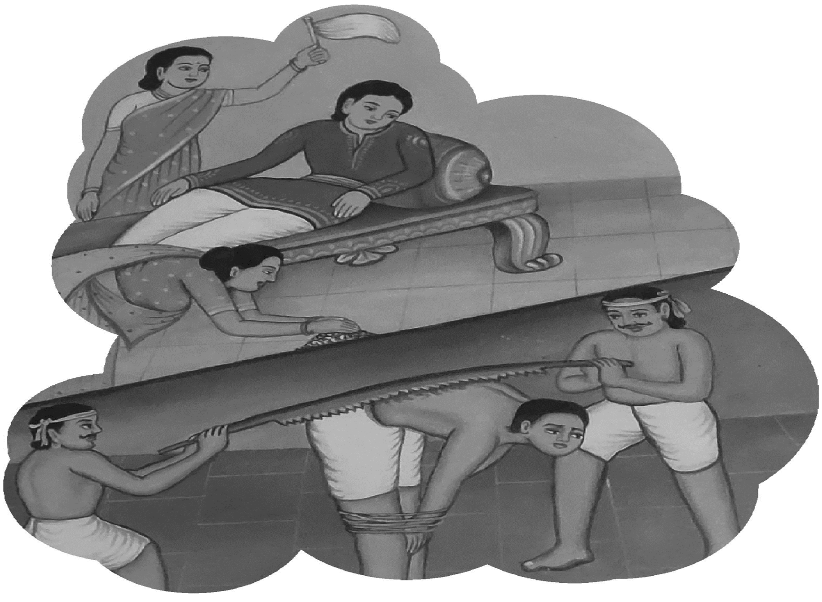

कमठ का जीव जो कि सर्प हुआ था, वह मरकर पाँचवें नरक में

गया और असंख्यात वर्ष तक तीव्र दुःख भोगे। उसकी क्षुधा-तृषा का कोई पार नहीं था, उसके शरीर के प्रतिदिन हजारों टुकड़े हो जाते थे, लोहे का विशाल पिण्ड भी गल गये – ऐसी तो वहाँ ठण्ड थी; करवत और भालों से उसका शरीर कटता और छिदता था; आत्मा का ज्ञान तो उसे था नहीं और अच्छे भाव भी नहीं थे, अज्ञान एवं अशुभ-भावों से वह अत्यन्त दुःखी होता था। पूर्वभव में अपने भाई के प्रति जो तीव्र क्रोध के संस्कार थे, वे भी उसके छूटे नहीं थे। तीव्र क्रोध के साथ मरण कर वह नरक से निकलकर एक भयंकर अजगर हुआ।

पूर्वभव-छठवाँ – अग्निवेगमुनि और अजगर

अपने कथा नायक भगवान पार्श्वनाथ का जीव स्वर्ग से चयकर जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में अवतरित हुआ। वहाँ सीमन्धरादि तीर्थंकर सदा विराजते हैं और दिव्यध्वनि में आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। हजारों केवली अरिहन्त भगवान तथा लाखों जिनमुनि उस देश में विचरते हैं। वहाँ करोड़ों मनुष्य आत्मज्ञान करके धर्म की साधना करते हैं। उस देश की शोभा अद्भुत है, देव भी वहाँ दर्शनार्थ आते हैं।

ऐसे सुन्दर विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश के मध्य विजयार्द्ध पर्वत है, उस पर विद्याधरों के नगर हैं। उन्हीं में से एक नगर में विद्युतगति नामक राजा राज्य करते थे; उनकी रानी का नाम विद्युतमाला था। उन्हीं राजा-रानी के घर पार्श्वनाथ का जीव अवतरित हुआ, उसका नाम था अग्निवेग। वे पूर्वभव से ही आत्मज्ञान साथ लेकर आये थे। एक छोटे-से ज्ञानी की बालचेष्टायें देखकर सबको बड़ा आनन्द होता था। एकबार राजकुमार अग्निवेग वन में जाकर वन की शोभा निहार रहे थे; वहाँ उन्होंने अपने महाभाग्य से एक साधु को देखा। वे साधु आत्मचिन्तन में एकाग्र थे; मानों साक्षात् भगवान विराज रहे हों – ऐसा उनके दर्शन से लगता था। उन्हें देखकर अग्निवेग को हार्दिक प्रसन्नता हुई। निकट जाकर उनकी

वन्दना करके वह उनके निकट बैठ गया और आत्मा का विचार करने लगा कि अहा, धन्य है ऐसी साधुदशा ! आत्मा में एकाग्र होकर आत्मा के अलौकिक आनन्द का अनुभव हो – ऐसी यह दशा है। कुछ ही देर में मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने पर पुन: नमस्कार किया और मुनिराज ने उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देकर कहा – हे भव्य ! आत्मा के सम्यक् स्वभाव को तो तुमने जाना है; अब उस स्वभाव को विशेषरूप से साधने के लिये तुम मुनिदशा का चारित्र अंगीकार करो, अब तुम्हारा संसार अति अल्प शेष रहा है। मनुष्य के तीन भव करके तुम मोक्ष प्राप्त करोगे। पहले तुम चक्रवर्ती होओगे और फिर तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे।

अहा ! अपने मोक्ष की बात सुनकर किसे आनन्द नहीं होगा ? मुनिराज के मुख से अपने मोक्ष की बात सुनकर अग्निवेग अति आनन्दित हुआ। उसे संसार के प्रति तीव्र वैराग्य जागृत हुआ कि अरे, मुझे तो अल्पकाल में मोक्ष साधना है, इस राजपाट में बैठे रहना मेरे लिये उचित नहीं है; मैं तो आज ही मुनि बनकर आत्मसाधना में एकाग्र होऊँगा।

इसप्रकार युवावस्था में उन राजकुमार ने वैराग्य प्राप्त किया और मुनिराज के निकट जिनदीक्षा लेकर साधुदशा धारण की। राजपाट छोड़ा, स्त्री-पुत्र छोड़े और वस्त्र भी त्याग दिये। सर्वपरिग्रह तथा कषायों को भी छोड़कर अन्तर के एकत्वस्वरूप को ध्याने लगे – मेरा यह आत्मा सर्व परभावों से भिन्न है; मैं एकाकी ज्ञान और सुख से परिपूर्ण हूँ। इसप्रकार निजात्मा के ध्यान में लीन रहकर वे अग्निवेग मुनिराज वन जंगल में विचरने लगे तथा मोक्ष साधना करने लगे। इतने में एक घटना घटी।

पूर्वभव का कमठ जो कि नरक में गया था और वहाँ से निकलकर इसी वन में विशाल अजगर हुआ था; वह शिकार की खोज में इधर-उधर भटकता रहता था। वह जंगल के पशुओं को पूरे का पूरा निगल जाता था।

एक दिन मुनिराज अग्निवेग ध्यान में लीन थे कि वह अजगर वहीं आ गया और फुँकारता हुआ क्रोधपूर्वक मुनिराज पर झपटा। शान्तरस में निमग्न क्षमावन्त मुनिराज तो ध्यान में लीन थे; उन्हें देखकर भी अजगर का क्रोध दूर नहीं हुआ; और वह पूरे के पूरे मुनिराज को निगल लिया।

अजगर के पेट में भी मुनिराज ने आत्मध्यानपूर्वक समाधिमरण किया और सोलहवें स्वर्ग में गये। देखो तो सही, उनकी क्षमा! अजगर ने निगल लिया तथापि उस पर क्रोध नहीं किया और स्वयं आत्मा की साधना में लीन रहे। **क्रोध में दुःख है और आत्मा की साधना में ही परमशान्ति है।** ऐसे शान्तभावों से उन्होंने समाधिमरण किया। **यहाँ हमें विचार करना है कि बाहर में कैसी भी विपरीत परिस्थिति हो, पुरुषार्थ पूर्वक उसमें भी आत्मध्यान किया जा सकता है। तथा कितना भी अनुकूल निमित्त मिला हो, उपादान जाग्रत हुए बिना कल्याण का कार्य करने का विकल्प भी नहीं आता।**

:: पूर्वभव-पाँचवा ::

मरुभूति सोलहवें स्वर्ग में देव और कमठ छठवें नरक में नारकी

मुनिराज तो शान्तभाव से समाधिमरण करके सोलहवें स्वर्ग में गये और अजगर क्रोधभाव के कारण पुन: छठवें नरक में जा पड़ा और घोर दु:ख सहन किये। दोनों की आयु बाईस सागर थी। एकबार जो दोनों सहोदर-भ्राता थे, उनमें से एक तो बाईस सागर तक स्वर्ग के सुख भोगकर तथा दूसरा उतने ही काल तक नरक के दु:ख सहन करके दोनों मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए। उनमें से एक तो चक्रवर्ती हुआ और दूसरा शिकारी भील। उनकी कथा आप अगले प्रकरण में पढ़ेंगे।

पूर्वभव चौथा : वज्रनाभि चक्रवर्ती और कुरंग भील

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में अश्वपुर नगर है; वहाँ के राजा का नाम वज्रवीर्य तथा रानी का नाम विजयादेवी। एकबार रानी ने आनन्दकारी पाँच स्वप्न देखे – मेरुपर्वत, सूर्य, चन्द्र, देवविमान तथा जल से भरा सरोवर। इन पाँच स्वप्नों की बात उन्होंने राजा से कही और पूछा कि हे महाराज ! इन पाँच स्वप्नों का फल क्या होगा ?

राजा ने कहा कि इनके फल में तुम्हारे उत्तम पुत्र का जन्म होगा और वह चक्रवर्ती बनेगा।

यह सुनकर रानी प्रसन्न हुई और पंचपरमेष्ठी का गुणगान करने लगी। कुछ काल पश्चात् उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वज्रनाभि रखा गया। यही अपने पार्श्वनाथ भगवान का जीव, जो स्वर्ग से यहाँ अवतरित हुआ है। राजा ने पुत्रजन्म का महान उत्सव किया। छोटे से राजकुमार अपनी बाल चेष्टाओं से सबको आनन्दित करते थे। भले ही उम्र में छोटे थे, परन्तु महान आत्मज्ञानी थे। कभी-कभी वे आत्मा की

मधुर बातें करते, जिन्हें सुनकर अनेक जीवों को धर्म की प्रेरणा मिलती। कभी वे एकान्त में ध्यान धरकर चैतन्य के चिन्तन में बैठ जाते।

कुमार वज्रनाभि ज्यों-ज्यों बड़े होते गये, त्यों-त्यों उनके अनेक प्रकार की विद्याओं का भी विकास होने लगा। वे बुद्धिसम्पन्न कुमार न्याय-नीति के मार्ग पर चलने वाले तथा अनेक गुणरत्नों के भण्डार थे। युवा होने पर उनका राज्याभिषेक हुआ। एकबार उत्तम पुण्योदय से धर्मचक्रवर्ती तीर्थंकर का उनके देश में पदार्पण हुआ और उसी समय उनके राजभण्डार में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। पुण्य की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है ऐसा समझनेवाले उन राजकुमार ने सर्वप्रथम धर्मचक्री तीर्थंकर देव की धर्मसभा में जाकर उनकी पूजा की और फिर सुदर्शनचक्र का उत्सव किया। उस सुदर्शनचक्र का ऐसा सामर्थ्य होता है कि उसे जिस शत्रु पर छोड़ा जाय उसके प्राण हर ले, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उस चक्र द्वारा एक भी जीव की हिंसा किये बिना उन्होंने छह खण्ड पर विजय प्राप्त कर ली, मानों अहिंसा चक्र द्वारा ही छहों खण्ड जीतकर वे चक्रवर्ती हो गये। चक्रवर्ती का अपार वैभव उन्हें प्राप्त हो गया। अद्‌भुत वैभव होने पर भी वे चक्रवर्ती जानते थे कि इस समस्त बाह्य वैभव की अपेक्षा हमारा अनन्त चैतन्य वैभव इससे भिन्न प्रकार का है, वही सुख का दातार है; बाह्य का कोई वैभव सुख देने वाला नहीं है, उसमें तो आकुलता है। पुण्य से प्राप्त बाह्य वैभव तो अल्पकाल रहनेवाला है और हमारा आत्मवैभव अनन्तकाल तक साथ रहेगा। सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र द्वारा मोह को जीतकर मैं मोक्ष साम्राज्य प्राप्त करूँगा, वही मेरा सच्चा साम्राज्य है। ऐसी प्रतीतिसहित वे जगत से उदास थे –

'दास भगवन्त के उदास रहे जगत सों।
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।।'

वे चक्रवर्ती होने पर भी अन्तर में अद्‌भुत ज्ञान परिणति सहित प्रतिदिन अरिहन्तदेव की पूजा, मुनिवरों की सेवा, शास्त्र स्वाध्याय, सामायिकादि

क्रियायें करते थे। इसप्रकार धर्म संस्कारों से परिपूर्ण उनका जीवन अन्य जीवों को भी आदर्शरूप था।

एकबार उनकी नगरी में क्षेमंकर मुनिराज पधारे; उनकी मुद्रा प्रशमरस झरती-वीतरागी थी और वे अवधिज्ञान के धारी थे। वज्रनाभि चक्रवर्ती उनके दर्शन करने गये और उन्हें देखते ही उनके नेत्रों से आनन्द उमड़ने लगा। धन्य रत्नत्रयधारी मुनिराज ! आपके वीतरागी तीन रत्नों के समक्ष यह चक्रवर्ती के चौदहरत्न बिल्कुल तुच्छ हैं। इसप्रकार अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराज की वन्दना एवं स्तवन करके आत्महित का उपदेश सुनने की जिज्ञासा प्रकट की। तब मुनिराज ने उनको मोक्षमार्ग का अलौकिक उपदेश दिया; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का वीतरागभाव समझाया और कहा कि मोक्ष का हेतु ऐसा वीतरागभाव ही कर्त्तव्य है। हे भव्य ! तुम इस संसार-दु:ख से छूटना चाहते हो तो ऐसी चारित्रदशा अंगीकार करो। **राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, राग तो दु:ख है; अत: कहीं भी किंचित् भी राग न करके, वीतरागी होकर भव्यजीव भवसमुद्र से पार होते हैं।** हे राजन् ! तुम भी ऐसे वीतराग धर्म की साधना में तत्पर होओ। तुम्हें आत्मप्रतीति तो है ही और अब तुम्हारे तीन भव शेष हैं, पश्चात् तुम तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे।

मुनिराज का ऐसा वीतराग उपदेश सुनकर चक्रवर्ती अति प्रसन्न हुए और उन्हें उत्तम वैराग्य भावनायें जागृत हुईं। शरीर एवं भोगों से उनका चित्त उदास हो गया और धर्म का उत्साह अत्यधिक बढ़ गया। उन्होंने मुनिराज से अत्यन्त विनयपूर्वक मुनिदीक्षा देने की प्रार्थना की।

हे प्रभो ! इस दु:खमय संसार से मेरा उद्धार करो। रत्नत्रयधारी नौका द्वारा मैं भी इस भवसमुद्र से पार होना चाहता हूँ। संसार में कहीं सुख नहीं है, इसलिये तीर्थंकर भी संसार को त्यागकर मोक्ष की साधना करते हैं। हे प्रभो ! मैं भी मुनिदीक्षा लेकर तीर्थंकर पथ पर चलना चाहता हूँ।

मुनिराज – हे भव्य ! तुम्हारी भावना उत्तम है। तुम चक्रवर्ती की सम्पदा को असार जानकर त्यागने हेतु तत्पर हुए हो और सारभूत रत्नत्रय को धारण करना चाहते हो। तुम्हें धन्य है ! ऐसा कहकर क्षेमंकर मुनिराज ने वज्रनाभि चक्रवर्ती को मुनिपद की दीक्षा दी। वे चक्रवर्ती अब राजपाट छोड़कर जिनमुद्राधारी मुनि हो गये। छह खण्ड की विभूति के उपभोग से उन्हें तृप्ति नहीं हुई, इसलिए मोक्ष का अखण्ड सुख साधने हेतु तत्पर हुए। धन्य वे मुनिराज ! उनके चरणों में हमारा नमस्कार हो !!

धन्य चक्रेश्वर आतमहित में छोड़ दिया घरबार.... कि
तुमने छोड़ा सब संसार....
छोड़े चौदह रत्न नवोनिधि, जाना जगत असार....कि
तुमने छोड़ा सब संसार....
रत्नत्रय को धारण करके पहुँचे मुक्ति-द्वार.... कि तुमने
छोड़ा सब संसार....

गजराज के ऊपर रत्नजड़ित होदे पर आरूढ़ होकर चलनेवाले चक्रवर्ती अब नंगे पाँव वन की पथरीली भूमि पर चलने लगे। रत्न-मणिजड़ित वस्त्रालंकारों को छोड़कर नग्न-दिगम्बर मुद्राधारी वे मुनिराज अब रत्नत्रयधारी आभूषणों से सुशोभित हो रहे थे। स्वर्ण-थालों में भोजन लेनेवाले अब हथेलियों में खड़े-खड़े आहार करने लगे। चौदह रत्न छोड़कर उन्होंने तीन रत्न ग्रहण किये। नव निधियों को त्यागकर अखण्ड आनन्द निधान की साधना में लग गये। छियानवे हजार रानियाँ और छियानवे करोड़ सेना का संग छोड़कर एकाकी-असंगरूप से वन-जंगल में वास करने लगे और चैतन्यस्वरूप आत्मा के ध्यान में लीन हो गये।

एकबार वे मुनिराज वन की एक शिला पर बैठे-बैठे आत्मध्यान में लवलीन थे....सिद्ध भगवान समान अपने आत्मा का बारम्बार अनुभव करते थे; जंगल में आस-पास क्या हो रहा है, उसका उन्हें रंचमात्र भी

लक्ष्य नहीं था; मैं तो देह से भिन्न आत्मा हूँ, मुझमें परिपूर्ण परमात्म शक्ति विद्यमान है; ऐसे ध्यान में एकाग्र थे कि इतने में दूर से एक तीर सनसनाता हुआ आया और मुनिराज के शरीर में विंध गया।

कहाँ से आया था वह तीर ? उनका पूर्वभव का भाई कमठ का जीव जो नरक में गया था, वहाँ से निकलकर कुरंग नाम का शिकारी भील हुआ था। वह भील इसी वन में रहता था और धनुष-बाण द्वारा क्रूर परिणामों से हिरण आदि निर्दोष पशुओं की हिंसा करता था। वह माँस का लोलुपी था और महान पाप-बंध कर रहा था। वन में फिरते-फिरते वह भील वहाँ आ पहुँचा, जहाँ मुनिराज ध्यानमग्न विराजमान थे। **मुनिराज को देखकर उन पर भक्तिभाव आने के बदले पूर्वभव के संस्कारवश उसे क्रोध आया और धनुष पर बाण चढ़ाकर मुनिराज की ओर चला दिया और मुनिराज का शरीर विंध गया।**

अरे रे ! क्रोध कितना नीच है ? कहाँ जीव का उपशान्त स्वभाव और कहाँ क्रोध ? क्रोधान्ध जीव उन भगवान सदृश मुनिराज को नहीं पहिचान सका और उन अहिंसक मुनिराज की अकारण हिंसा करके उस जीव ने तीव्र अनन्तानुबन्धी क्रोध से सातवें नरक की

आयु का बंध किया। उसे कहाँ खबर थी कि क्रोध के फल में इतने भयंकर दु:ख भोगने पड़ेंगे ?

इधर शरीर विंध जाने पर भी मुनिराज तो अपने आत्मस्वभाव में निश्चल हैं; उनके ध्यान में कोई शत्रु या मित्र नहीं है, राग या द्वेष नहीं है। कोई पूजे या कोई बाण मारे – दोनों के प्रति उन्हें समभाव है, जीवन और मरण में भी समभाव है। कहा भी है –

अर्घावतारण असि प्रहारन में सदा समता धरन।

उनको शरीर का ममत्व नहीं है; आत्मा के आनन्द में इतने लीन हैं कि शरीर छिदने पर भी उसका दु:ख नहीं है; **मोह हो तो दु:ख हो न ? निर्मोही को दु:ख कैसा ? वे तो निर्मोहरूप से धर्मध्यान में ही एकाग्र हैं।** बाण मारनेवाले भील पर भी उन्हें क्रोध नहीं होता। वाह रे वाह ! धन्य हैं क्षमा के भण्डार उन मुनिराज को। समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर वे मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र[१] हुए। प्रिय पाठको ! **तुम भी उस भील पर क्रोध नहीं करना, किन्तु क्षमा के भण्डार ऐसे मुनिराज से उत्तम क्षमा का पाठ पढ़ना। क्रूर भील का जीव भी अन्त में तो धर्म प्राप्त करनेवाला है।**

वह भील का जीव अपने महापाप का फल भोगने के लिये सातवें नरक[१] में गया। रौद्रध्यान से मुनिराज की हत्या करने से वह घोर नरक में जा गिरा और वहाँ भयंकर दु:ख सहन किये। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने अज्ञानदशा में ऐसे भाव अनन्तबार किये हैं; वह जीव भी क्षणमात्र में अपने भावों में परिवर्तन करके अपना हित साध सकता है। वर्तमान का वह पापी जीव भी क्षणभर में पलटकर कैसे आत्मा का उद्धार करता है, वह आप कुछ ही भव बाद पढ़ेंगे और तब उसी जीव के प्रति आपको प्रेम उत्पन्न होगा।

---

१. स्वर्ग व नरक का चित्र पेज २३ पर दिया है।

:: पूर्वभव-तीसरा ::

ग्रैवेयक में अहमिन्द्र और सातवें नरक में नारकी

ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए उन अहमिन्द्र की आयु २७ सागरोपम जितने असंख्यात वर्ष की थी और सातवें नरक में उत्पन्न हुए उस कमठ के जीव की आयु भी २७ सागरोपम थी। यहाँ से निकलकर दोनों जीव मनुष्यलोक में फिर मिलेंगे। स्वर्गलोक का आश्चर्यजनक वैभव देखकर वे अहमिन्द्र विचार में पड़ गये और उनको अवधिज्ञान प्रकट हुआ, उन्होंने अपना पूर्वभव जान लिया; इससे धर्म की अतिशय महिमा आयी कि अहो ! वह मुनिदशा धन्य थी ! वह चारित्रवृक्ष तो मोक्षफल देनेवाला था, परन्तु मेरी वीतराग चारित्रदशा पूर्ण नहीं हुई और किंचित् राग शेष रह गया जिससे इस स्वर्गलोक में अवतार हुआ है। यहाँ भी जैनधर्म की उपासना मेरा कर्त्तव्य है। ऐसा विचारकर वहाँ देवलोक के जिनालय में विराजमान शाश्वत रत्नमय जिनप्रतिमा की अत्यन्त भक्तिसहित पूजा की। स्वर्गलोक के कल्पवृक्षों से पूजन की सामग्री ली। उस स्वर्गलोक की ऋद्धि अलौकिक थी। वहाँ असंख्यात सम्यग्दृष्टि देव थे; उनमें से कितने ही देव आगामी भव में ही तीर्थंकर होनेवाले थे और कितने ही मोक्ष प्राप्त करने वाले थे। ऐसे धर्मात्मा साधर्मी देवों के साथ आनन्दपूर्वक असंख्यात वर्ष तक धर्मचर्चा की और मुनिपने की भावना भायी।

इधर उनके साथ पिछले ७ भवों से लगातार बैर रखने वाले कमठ के जीव ने नरक में २७ सागर तक अपरम्पार वेदनायें सहन कीं। जब वह भील था और उसने बाण चलाकर मुनिराज का घात किया; पश्चात् कुछ ही काल में उस भील को भी किसी ने मार डाला और संक्लेश परिणामों से मरकर वह सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। उपजते ही औंधे सिर भालों जैसी भूमि पर गिरा और तीव्र वेदना सहित पाँच सौ योजन ऊपर उछलकर फिर उस भूमि पर गिरा और फिर उछला। इसप्रकार

बारम्बार होने से उनका शरीर छिन्न-भिन्न हो गया और भयंकर वेदना हुई। अत्यन्त भयभीत होकर मूढ़ की भाँति चारों ओर ताकने लगा कि अरे, यह सब क्या है ? मैं यहाँ कहाँ आ पहुँचा? यहाँ तो चारों ओर दु:ख का समुद्र उमड़ रहा है। अरे, मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? किसकी शरण लूँ ? यहाँ की दुर्गन्ध तो सहन नहीं होती और अति भीषण ठण्ड से शरीर गल जाता है। इस नरक के कुएँ से मैं कब निकलूँगा ? इसप्रकार अत्यन्त दु:ख से विलाप करता, परन्तु वहाँ उसका विलाप कौन सुने ? कौन उसकी दया करे ?

अरे रे ! पूर्वभव के महापाप से नरक में आ पड़ा। उलटे दूसरे नारकी घातक बनकर उसे मारते हैं। भूखे-प्यासे उस जीव को असंख्यात वर्षों तक खाने को अन्न या पीने को पानी नहीं मिलता। दु:ख के मारे उसे कुछ सूझता नहीं है; कहीं चैन नहीं पड़ता। धर्म का सेवन तो किया नहीं हैं; धर्मात्मा की विराधना करके मात्र पाप का ही सेवन किया है, फिर उसे चैन कहाँ से ? जो निर्दय होकर जीवहिंसा करें, माँसभक्षण करें – ऐसे जीव नरक में अति भयंकर दु:ख भोगते हैं; वहाँ एक क्षण भी सुख नहीं हैं। **हिंसादि में सुख माननेवाले जीव राई जितने इन्द्रियसुख के लिये मेरुपर्वत समान दु:ख को आमंत्रित करते हैं।** इसप्रकार उस पापी जीव ने असंख्यात वर्ष तक सातवें नरक के महान दु:ख भोगे।

पूर्वभव दूसरा – आनन्दकुमार और सिंह

मरुभूति का जीव (पार्श्वनाथ भगवान का जीव) तो अहमिन्द्र स्वर्ग से निकलकर अयोध्यानगरी में आनन्दकुमार के रूप में अवतरित हुआ और कमठ का जीव नरक से निकलकर क्रूर सिंह हुआ।

ऋषभदेव आदि पाँच तीर्थंकर भगवन्तों के अवतार से पावन हुई अयोध्या नगरी के राजा वज्रबाहु थे; उनकी रानी प्रभावती की कुक्षि से आनन्दकुमार का अवतार हुआ। आनन्दकुमार स्वयं आत्मानन्द का

अनुभव करते थे और दूसरों को भी आनन्द देते थे। बड़े होने पर वे महामाण्डलिक राजा हुए; आठ हजार राजा उनके अधिकार में थे। इतने महान राजा होने पर भी वे धर्म को नहीं भूलते थे। वे धर्मात्माओं का सम्मान तथा विद्वानों का आदर करते थे। उनके शासन में अयोध्या की प्रजा सर्वप्रकार से सुखी थी।

फाल्गुन मास में वसन्तऋतु आयी और उद्यान सुन्दर पुष्पों से खिल उठे। धर्मात्माओं के अन्तर के उद्यान भी श्रद्धा-ज्ञान एवं आनन्द के पुष्पों से खिल उठे। आनन्द महाराजा राजसभा में बैठे हैं और धर्मचर्चा द्वारा सबको आनन्दित कर रहे हैं।

इतने में मंत्री ने आकर कहा कि हे महाराज! कल से अष्टान्हिका पर्व प्रारम्भ हो रहा है, इसलिये आठ दिन (फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा) तक जिनमन्दिर में नन्दीश्वर पूजा का आयोजन किया है; आप भी इस उत्सव में पधारकर नन्दीश्वर-जिनालयों की पूजा करें।

मंत्री की बात सुनकर राजा अति आनन्दित हुए और कहा –

वीतराग जिनेश्वर की पूजा का यह अवसर तो बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। राज्यभर में धूमधाम से यह उत्सव मनाओ। पूजा रचाओ, धर्मचर्चा करो, दान दो और जिनेन्द्र भगवान के गुणों का चिन्तवन करके जैनधर्म **'आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसः सततमेव'** के साथ-साथ अपनी आत्मा की प्रभावना करो।

अष्टान्हिका पर्व का मंगल-उत्सव चल रहा था। उन्हीं दिनों विपुलमति नाम के एक मुनिराज का जिनमन्दिर में आगमन हुआ।

वाह ! एक तो भगवान की पूजा का उत्सव और उसी में मुनिराज का आगमन। इससे सारे नगर में हर्ष छा गया। राजा एवं प्रजा सबने भक्तिभावसहित मुनिराज के दर्शन किये।

वीतरागी मुनिराज ने कहा – **हे भव्यजीवो ! यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान एवं सुखस्वरूप है, इसे पहिचानो। सम्पूर्ण जगत में घूम-फिरकर देखा, परन्तु आत्मा के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र सुख दिखायी नहीं दिया। आत्मा का सुख आत्मा में ही है; वह बाहर ढूँढने से नहीं मिलेगा। आत्मा को जानने से ही आत्मसुख की प्राप्ति होती है, राग द्वारा भी वह सुख प्राप्त नहीं होता। जिनशासन में अरिहन्त भगवान ने ऐसा कहा है कि पूजा-व्रतादि के शुभराग से जीवों को पुण्य बन्ध होता है और मोहरहित जो वीतरागभाव है वह धर्म है, उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।**

पुनश्च, मुनिराज ने कहा – इस समय नन्दीश्वर-जिनालयों की पूजा का उत्सव अष्टान्हिका पर्व चल रहा है; उस नन्दीश्वरद्वीप में बावन शाश्वत जिनालय हैं और उनमें ५६१६ वीतरागी जिनबिम्ब विराजमान हैं। **वे जिनबिम्ब आत्मा के शुद्धस्वरूप का प्रतिबिम्ब हैं। जिसप्रकार दर्पण में देखने पर अपनी मुखाकृति दिखायी देती है, उसीप्रकार वीतरागी जिनबिम्ब के दर्शन से आत्मा का शुद्धस्वरूप जो अरिहन्त जैसा है वह लक्ष्य में आता है और आत्मा का शुद्धस्वरूप लक्ष्य में आने पर मोह का नाश होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।** उस नन्दीश्वर द्वीप में मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ देव ही जाते हैं। रत्नमय शाश्वत जिनबिम्ब देखकर अनेकों देव आश्चर्य से चैतन्य की महिमा में लीन होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। जिसप्रकार आत्मा का शुद्धस्वभाव शाश्वत – अनादि का है, उसीप्रकार उसके प्रतिबिम्ब रूप वे वीतराग जिनप्रतिमायें भी शाश्वत अनादि की हैं। वे प्रतिमायें ऐसी आश्चर्यकारी हैं मानों साक्षात् तीर्थंकर भगवान ही विराज रहे हों ! मानों अभी दिव्यध्वनि खिरने लगेगी। वीतरागता का परमतेज उनकी मुद्रा पर झलक रहा है; जिसे देखकर आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का स्मरण होता है।

अहा ! चैतन्य के अनन्तगुण मानों मूर्त होकर झलकते हों, ऐसी अद्भुत वे रत्नप्रतिमायें ऐसा उपदेश देती हैं कि संकल्प-विकल्प छोड़कर तुम अपने स्वरूप में स्थिर होओ –

हे चेतन ! तुम स्वयं भगवान बन सकते हो। जिस स्वरूप में प्रभु का ध्यान करोगे उसी स्वरूप तुम हो जाओगे। जिसप्रकार चिन्तामणि के चिन्तन द्वारा इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है, उसीप्रकार जिनप्रतिमा समान शुद्ध आत्मा के चिन्तन द्वारा सम्यक्त्वादि इष्ट फल की प्राप्ति होती है। अरे, जिसे जिनदेव के प्रति भक्ति नहीं है, वह तो संसार समुद्र के बीच विषय-कषाय रूपी मगर के मुख में ही पड़ा है। प्रतिदिन जिनेन्द्र देव के दर्शन करके जिनभावना भाना, यह प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है।

मुनिराज के मुख से जिनदर्शन की महिमा सुनकर सबको अति हर्ष हुआ और अन्तर में अरिहन्त देव के गुणों का तथा आत्मा के शुद्धस्वरूप का विचार करने लगे। तत्पश्चात् मुनिराज आहार के समय नगर में पधारे और आनन्द राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहारदान दिया। आहार के पश्चात् मुनिराज ने कहा – हे राजन् ! अब आपके दो ही भव शेष हैं। इस भव में तीर्थंकर प्रकृति बाँधकर आगामी दूसरे भव में आप भरतक्षेत्र में २३वें तीर्थंकर होओगे और सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करोगे। यह सुनकर राजा आनन्द अति आनन्दित हुए। उनका नाम भी 'आनन्द' था और भाव से भी वे आनन्दित थे।

पश्चात् मुनिराज ने उपदेश में तीन लोक के जिनबिम्बों का भी वर्णन किया था। सूर्यविमान में प्रभु का शाश्वत् जिनबिम्ब है और ज्योतिष देव उसकी पूजा-भक्ति करते हैं; उसका अद्भुत वर्णन सुनकर राजा अपने महल में से उन्हें नमस्कार करने लगे और अयोध्या नगरी में भी सूर्यविमान जैसा एक सुन्दर विमान बनवाया; हीरा-माणिक-रत्नजड़ित

उस विमान में सुन्दर जिनप्रतिमा की स्थापना की। उस विमान की तथा उसमें विराजमान प्रतिमा की अद्‌भुत शोभा देखकर राजा आनन्द के आनन्द का पार नहीं था। वे प्रतिदिन प्रात: एवं सायंकाल उसकी वंदना-पूजा-भक्ति करने लगे। इसप्रकार राजा को सूर्यविमान स्थित जिनबिम्ब की पूजा करते देखकर उस पर विश्वास के कारण लोक भी सूर्य विमान को नमस्कार करने लगे। **राजा तो सूर्यविमान में विराजमान जिनबिम्ब को नमस्कार करते थे, परन्तु बाह्य-दृष्टि जीव निश्चय को जाने बिना व्यवहार को भजने लगते हैं,** तदनुसार अन्य मतावलम्बी लोग भी जिनबिम्ब के बदले सूर्यविमान को पूजने लगे।

आनन्द महाराजा अनेक प्रकार से धर्माराधना कर रहे हैं। उन्हें विश्वास है कि जिनसदृश अपने आत्मा का चिन्तन करके मैं भी जिन हो जाऊँगा। ऐसी भावना सहित अनेक वर्ष बीत गये। एक दिन राजा ने अपने सिर में एक श्वेत बाल देखा और तुरन्त ही उनका हृदय वैराग्यमय हो उठा कि अरे, यह श्वेत बाल मृत्यु का सन्देश लेकर आया है कि हे जीव ! अब शीघ्र ही चारित्रदशा को धारण करके आत्मकल्याण कर। इसलिये अब मुझे आत्मकल्याण में क्षणभर का भी विलम्ब नहीं करना चाहिये। मैं आज ही यह सर्व सांसारिक परिग्रह छोड़कर शुद्धोपयोगी मुनि बनूँगा और उपयोग स्वरूप अपने आत्मा में एकाग्र होकर चारित्रदशा प्रकट करूँगा। ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक वे आनन्द महाराजा बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करने लगे और सागरदत्त मुनि के समीप जाकर मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। वे मुनि होकर शुद्धोपयोग द्वारा आत्मध्यान में एकाग्र हुए और अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में निमग्न हो गये। अहा ! उनका आत्मा रत्नत्रय के तेज से दीप्तिमान हो उठा। उनकी वीतरागता आश्चर्य उत्पन्न करती थी। ऐसी उत्तम आराधना सहित स्वाध्याय में एकाग्रता से उन आनन्द मुनिराज को बारह अंग का ज्ञान उदित हुआ। श्रुतज्ञान का पवित्र

सागर उमड़ने लगा; अन्य अनेक ऋद्धियाँ भी उनके प्रकट हुईं; परन्तु उनका लक्ष्य तो चैतन्यऋद्धि पर ही था। आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का तो उनके अभाव था, वे तो धर्मध्यान में एकाग्र रहते थे। ध्यान के समय वे अपने एक शुद्धात्मा में ही उपयोग को एकाग्र करके निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते थे और अन्य चिन्तायें अपने आप अटक जाती थीं। अहा, उनकी शान्त ध्यान-मुद्रा देखकर वन के पशु भी आश्चर्यचकित हो जाते थे। सर्वप्रकार के परिषहों को सहन करते हुए वे आनन्द-मुनिराज आत्मशुद्धि में वृद्धि कर रहे थे और उनके कर्मों की निर्जरा हो रही थी। अहा, ऐसा वीतरागी मुनि जीवन धन्य है! उनके चरणों में हमारा मस्तक झुक जाता है।

वे मुनिराज बारम्बार शुद्धोपयोगरूपी जल द्वारा चारित्रवृक्ष का सिंचन करते थे। वे चारित्र के महान कल्पवृक्ष थे और उस कल्पवृक्ष में मानों उत्तम फल लगा हो तदनुसार उत्तमक्षमादि दस धर्म उनके विकसित हो चुके थे। ऐसे आनन्द मुनिराज ने दर्शन-विशुद्धि से लेकर रत्नत्रय धर्म के प्रति परम वात्सल्य तक की सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। सर्व तीर्थंकर पूर्वभव में ऐसी उत्तम भावनायें भाते हैं। एक ओर पुण्य का रस बढ़ रहा था तो दूसरी ओर चैतन्य-अनुभव द्वारा वीतरागी शान्तरस में भी वृद्धि होती जा रही थी। शिवपुर पहुँचने में अब मात्र एक ही भव बीच में शेष बचा था।

वे मुनिराज एकबार वन में निष्कंपरूप से ध्यान मग्न थे। बाह्य लक्ष्य छोड़कर निजस्वरूप के ध्यान में एकाग्र थे। उनके सर्व प्रदेशों में अपूर्व आनन्द रस की फुहारें फूट रही थीं कि इतने में गर्जना करता हुआ एक सिंह वहाँ आ पहुँचा। उसकी भीषण गर्जना से सारा वन काँप उठा; वन के पशु-पक्षी भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। छलाँगें मारता हुआ वह सिंह वन में स्वच्छन्द विचरता था। वह सिंह दूसरा कोई नहीं किन्तु

अपना परिचित कमठ का जीव है। ध्यानस्थ मुनि पर उसकी दृष्टि पड़ते ही उसने क्रोध से गर्जना की और मुनि की ओर दौड़ा। मुनिराज किंचित् मात्र भयभीत नहीं हुए, वे तो निर्भयरूप से अपने ध्यान में लीन थे। सिंह ने छलाँग मारकर उनका गला दबोच लिया और पंजों से शरीर को फाड़कर खाने लगा। उसे कहाँ खबर थी कि मैं इस समय जिनके शरीर को खा रहा हूँ वे ही अगले भव में मेरे गुरु बनकर मेरा संसार से उद्धार करेंगे। सिंह शरीर को खा रहा था उससमय मुनिराज तो अपने उत्कृष्ट क्षमाभाव में ही रहे, उन्होंने सिंह पर किंचित् क्रोध नहीं किया। वीतराग मार्ग से किंचित् भी चलित नहीं हुए। वाह, धन्य मुनिराज ! चतुर्विध आराधना की अखण्डता सहित प्राणोत्सर्ग करके वे आनत-स्वर्ग में इन्द्र हुए। सिंह भी क्रूरपरिणामों से मरकर पुन: नरक में जा गिरा।

अन्तिम पूर्वभव : आनन्द मुनि स्वर्ग में और सिंह नरक में

ऊर्ध्वलोक के १६ स्वर्गों में से १३वाँ आनत-स्वर्ग है। वहाँ अनेक कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न भी सुलभ हैं, परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि कल्पवृक्ष के निकट तो फल की याचना करनी पड़ती है और चिन्तामणि के निकट भी चिन्तवन करना पड़ता है, तभी वे इच्छित वस्तु देते हैं;

परन्तु वीतराग धर्म तो ऐसा है कि वह बिना इच्छा के भी उत्तम फल प्रदान करता है, इसलिये वह धर्म ही श्रेष्ठ है। आनत-स्वर्ग में उत्पन्न हुए अपने कथानायक पार्श्वप्रभु का यह स्वर्ग का अन्तिम भव है। अगले भव में तो वे भगवान होंगे। भोगोपभोग के बीच वे जानते थे कि इन **भोगों की इच्छा तो अग्नि समान है; विषयोंरूपी ईंधन से वह कभी शान्त नहीं होगी, वह तो चारित्र-जल से ही बुझ सकती है;** परन्तु इस स्वर्गलोक में चारित्रदशा है ही नहीं, वह तो मनुष्य भव में ही होती है; इसलिये अब मनुष्य-भव पाकर हम अपनी चारित्रदशा पूर्ण करेंगे और पुन: इस संसार चक्र में नहीं फँसेंगे। इसप्रकार चारित्रदशा कि भावनापूर्वक, सम्यक्त्व की आराधनासहित वे असंख्यात वर्ष तक स्वर्गलोक में रहे। वे बारम्बार जिनभक्ति का उत्सव करते और देवों की सभा में उत्तम धर्म चर्चा करते। उनके उपदेश से स्वर्ग के कितने ही देवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

उन इन्द्र की आयु में जब छहमास शेष रहे और तब वाराणसी नगरी (काशी-बनारस) में उनके अवतरित होने की तैयारी होने लगी, अत: उसे देखने के लिये चलो हम उस नगरी में पहुँच जायें और पार्श्वप्रभु के जन्मोत्सव में आनन्दपूर्वक सम्मिलित हों।

:: वर्तमान एवं अन्तिम भव ::

वाराणसी नगरी में पार्श्वप्रभु का अवतार

पारस प्रभु ने कराया, चेतनरस का पान।
आत्मा का स्पर्शकर, जीवन बना महान।
लोहा ज्यों कंचन बने, त्यों बने आत्म भगवान।
प्रभु मैं भी तुमसा बनूँ, दीजे यह वरदान॥

जिस समय की यह कथा है, उस समय इस भरतक्षेत्र में चौथा काल पूर्ण होने आया था। बाईस तीर्थंकर मोक्ष पधार चुके थे। नेमिनाथ भगवान

गिरनार से मोक्ष पधारे, उसे भी ८३७५० वर्ष बीत चुके थे। अयोध्या से कुछ दूरी पर काशी देश में गंगानदी के किनारे वाराणसी (बनारस) नगरी अतिसमृद्ध एवं शोभायमान थी। इसी नगरी में सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ अवतरित हो चुके थे। अब तो तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रभु के अवतार का समय आ चुका था। जहाँ तीर्थंकर अवतरित होने वाले थे – ऐसी वाराणसी नगरी की शोभा का क्या कहना ? बनारस नगरी में प्रतिदिन आकाश से करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी, वह रत्नवृष्टि पन्द्रह मास तक होती रही। नगरवासी समझ गये थे कि यह किसी महामंगल अवसर के चिह्न हैं।

विश्वप्रसिद्ध ऐसे बनारस तीर्थ में उससमय महाभाग्यवान राजा अश्वसेन (विश्वसेन) राज्य करते थे। वे अति गम्भीर थे, सम्यग्दृष्टि थे। अवधिज्ञान के धारी तथा वीतरागी देव-गुरु के परम भक्त थे। उनकी महारानी ब्राह्मी देवी (ब्रह्मदत्ता अथवा वामादेवी/वर्मिलादेवी) भी अनेक गुणसम्पन्न थीं। उन दोनों का आत्मा तो मिथ्यात्वमल से रहित था ही, किन्तु उनका शरीर भी मलमूत्ररहित था। अहा, जहाँ तीर्थंकर समान पवित्र आत्मा का निवास होनेवाला हो, वहाँ मलिनता कैसे रह सकती है ? सिद्धान्त में कहा है– **तीर्थंकर को, उनके माता-पिता को, चक्रवर्ती को बलदेव-वासुदेव-प्रतिवासुदेव को तथा जुगलिया को मलमूत्र नहीं होते।**

एकबार महारानी वामादेवी पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के स्मरणपूर्वक निद्राधीन थीं, वैशाख कृष्णा द्वितीय का दिन था; तब उन्होंने रात्रि के पिछले प्रहर में १६ मंगल स्वप्न देखे –

सुर कुँजर सम कुँजर, धवल धुरन्धरो,
केहरि-केशर शोभित, नख-सिख सुन्दरो।

कमला कलश-न्हवन, दुई दाम सुहावनी;
रवि-शशि मंडल मधुर, मीन जुग पावनी ।।
पावन कनकघट जुगम पूरन, कमल-कलित सरोवरो;
कल्लोलमाला कुलित सागर, सिंहपीठ मनोहरो।
रमणीक अमर विमान फणपति-भुवन रवि छवि छाजई;
रुचि रतनराशि दिपंत, दहनसु तेजपुँज विराजई।।

ऐसे महामंगलकारी स्वप्न देखे और उसी समय वामादेवी माता की कुक्षि में पार्श्वनाथ भगवान के जीव का आगमन हुआ। माता का हृदय आनन्द से भर गया। प्रभात होते ही राजसभा में जाकर माताजी ने महाराजा

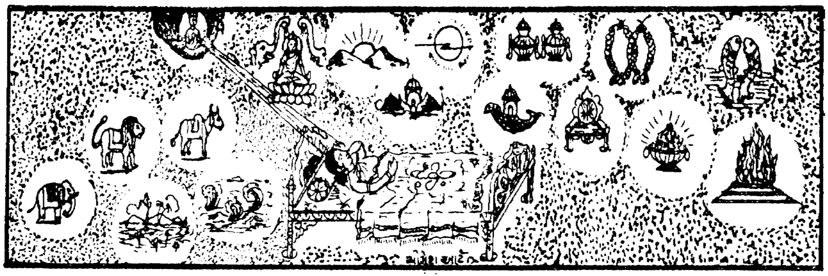

विश्वसेन से सोलह मंगल स्वप्नों की बात कही और उनके फलस्वरूप तीर्थंकर रूपी पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी – ऐसा महाराजा के मुख से सुनकर उनके हर्ष का पार नहीं रहा। मानों हृदयभूमि में धर्म के अंकुर फूट पड़े। वाह माता, तू धन्य हो गई ! इन्द्रों तथा इन्द्राणियों ने आकर प्रभु के माता-पिता का सम्मान किया और गर्भकल्याणक-उत्सव करके भगवान की पूजा-स्तुति की। छप्पन कुमारी देवियाँ माता की सेवा करने लगीं। वे बारम्बार तीर्थंकर के गुणगान करके माताजी के साथ आनन्ददायक चर्चा करती थीं। एकबार......

माता ने पूछा – हे देवी ! इस जगत में उत्तम रत्न कहाँ रहता होगा?

देवी ने कहा – माताजी, आपके उदर-भण्डार में ही वह उत्तम रत्न विद्यमान है।

दूसरी देवी ने पूछा – माताजी का शरीर स्वर्ण जैसा क्यों लगता है ?

तीसरी देवी बोली – क्योंकि उनको 'पारस' का स्पर्श हुआ है इसलिये।

चौथी देवी ने पूछा – माताजी, आपको कैसी भावना होती है ?

माताजी बोली – जैनधर्म का खूब विस्तार हो – ऐसी।

देवियाँ कहने लगीं – वाह माताजी ! अपने स्वर्गलोक से भी हमें यहाँ अधिक अच्छा लगता है, क्योंकि यहाँ हमें आपकी तथा बाल-तीर्थंकर की सेवा करने का महाभाग्य प्राप्त हुआ है। छोटे से प्रभु को हम पालने में झुलायेंगे, लोरियाँ गायेंगे और हँसी-खुशी गोद में उठायेंगे और उन्हें देख-देखकर आत्मा का धर्मप्राप्त करेंगे।

इसप्रकार देवियाँ माताजी के साथ प्रतिदिन आनन्दकारी चर्चा करती थीं और तीर्थंकर प्रभु की महिमा गाती थीं। माताजी के मुख से ऐसी आत्मस्पर्शी वाणी निकलती थी मानों उनकी कुक्षि में बैठे पार्श्वनाथ भगवान ही बोल रहे हों ! गर्भस्थ ज्ञानवन्त भगवान उससमय भी जानते थे कि मेरा चैतन्यतत्त्व इस शरीर के संयोग से बिल्कुल भिन्न है, चेतनामय

भाव ही मैं हूँ। इसप्रकार भगवान तो अपनी चेतना के आनन्द में झूल रहे थे। दिन पर दिन बीतते गये। पौष कृष्णा एकादशी आई और मंगल बधाई लाई।

पौष कृष्णा एकादशी के शुभदिन तेईसवें तीर्थंकर का अवतार हुआ। बनारस नगरी में चारों ओर आनन्द छा गया; मात्र बनारस में ही नहीं, अपितु तीनों लोक आनन्दित हो गये। स्वर्ग में भी अपने आप दिव्यवाद्य बजने लगे। इन्द्र ने जान लिया कि भरतक्षेत्र के तेईसवें तीर्थंकर का अवतार हुआ है, इसलिये तुरन्त इन्द्रासन से नीचे उतरकर सात कदम आगे जाकर भक्तिपूर्वक उन बाल-तीर्थंकर को परोक्ष नमस्कार किया और असंख्य देवों के साथ ऐरावत हाथी पर बैठकर जन्मोत्सव मनाने वाराणसी आ पहुँचे। बाल तीर्थंकर को विशाल ऐरावत हाथी पर बैठाया। हाथी आकाश में उड़ा और भगवान की शोभायात्रा मेरुपर्वत पर आ पहुँची। यह जो सूर्य-चन्द्र दिखते हैं, इनसे भी अधिक ऊँचाई वाले मेरुपर्वत पर प्रभु का जन्माभिषेक किया। उससमय प्रभु की दिव्य-महिमा देखकर अनेक देवों को सम्यग्दर्शन हो गया। अहा प्रभु ! आप तो जन्मरहित हो गये और आपकी भक्ति से हमारा भी जन्म सफल हो गया ! इसप्रकार स्तुति करते-करते इन्द्र-इन्द्राणी भी आनन्द से नाच उठे। उन्होंने प्रभु का नाम 'पार्श्वकुमार' रखा।

प्रभु के जन्माभिषेक के समय आसमान से देवों द्वारा पुष्पवृष्टि होने लगी। आश्चर्य यह है कि आसमान में कहीं भी पुष्पवृक्ष न होने पर भी पुष्प वर्षा हो रही थी ! आसमान को ऐसा लगा कि अहा, इन भगवान का ज्ञान तो मुझ से भी विशाल है। इसलिये नम्रीभूत होकर वह आसमान पुष्पवर्षा द्वारा प्रभु की पूजा कर रहा था। जिसप्रकार मैं निरालम्ब हूँ उसीप्रकार भगवान का ज्ञान भी निरालम्बी है – ऐसे निरालम्बनता के आनन्द से उल्लसित होकर वह आसमान पुष्पवृष्टि द्वारा प्रभु का जन्मोत्सव मना रहा था। मेरुपर्वत पर पार्श्वकुमार का जन्माभिषेक करके स्तुति करते

हुए इन्द्र कहते हैं कि हे प्रभो ! आप तो पवित्र ही हो, आपका नह्वन करने के बहाने वास्तव में तो हमने अपने ही पापों को धो डाला है। इन्द्राणी कहती हैं – प्रभो ! आपको गोद में लेकर मानों मैं मोक्ष को ही अपनी गोद में ले रही हूँ। इसप्रकार मेरा आत्मा उल्लसित हो जाता है और आपको रत्नाभूषणों से अलंकृत करते हुए ऐसा अनुभव होता है मानों मैं अपने ही आत्मा को धर्मरत्नों से अलंकृत कर रही हूँ। – ऐसा कहकर इन्द्राणी ने बाल तीर्थंकर को स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषण पहिनाए और रत्न का तिलक लगाया। इसप्रकार पार्श्वकुमार का जन्माभिषेक करके तथा देवलोक के दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाकर प्रभु के जन्मोत्सव की शोभायात्रा बनारस नगरी लौट आयी और वामादेवी माता को उनका लाड़ला पुत्र सौंपकर इन्द्र-इन्द्राणी ने कहा – हे माता ! आप धन्य हैं आप जगत की माता हैं। आपने जगत को यह ज्ञानप्रकाशक दीपक प्रदान किया है; हे माता ! आपका यह पुत्र तीन लोक का नाथ है।

वाराणसी नगरी में सर्वत्र आनन्दोत्सव मनाया गया। तीर्थंकर के आत्मा को देखकर हजारों लोग चैतन्यमहिमा समझ-समझकर आत्मज्ञान को प्राप्त हुए। अहा ! भगवान जब स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करके धर्मोपदेश देंगे और धर्मवृद्धि करेंगे, उससमय का क्या कहना ? परन्तु उनका जन्म होते ही जीवों में स्वयमेव धर्मवृद्धि होने लगी। जिसप्रकार सूर्योदय होने पर कमल खिलने लगते हैं उसीप्रकार तीर्थंकर सूर्य का उदय हुआ और भव्यजनरूपी कमल खिलने लगे। जन्मोत्सव के हर्षोपलक्ष्य में देवों ने माता-पिता के समक्ष सुन्दर नाटक करके भगवान के पूर्व के नौ भव बतलाये। उनमें हाथी के भव में मुनि के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्ति का दृश्य देखकर तो अनेक जीवों ने प्रतिबोध प्राप्त किया और पश्चात् उन्होंने मुनिदीक्षा धारण करके उत्तम क्षमा का कैसा पालन किया – वह भी बतलाया। इसप्रकार बाल तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्मोत्सव मनाकर तथा माता-पिता को उत्तमोत्तम वस्तुओं की भेंट देकर वे इन्द्र-इन्द्राणी

देवों सहित अपने स्वर्गलोक में चले गये। उस समय तो स्वर्ग की अपेक्षा वाराणसी नगरी का वैभव विशेष लग रहा था, क्योंकि तीर्थंकर समान पुण्यात्मा वहाँ विराज रहे थे। स्वर्ग के देव भी छोटे-छोटे बालकों का रूप धारण करके पार्श्वप्रभु के साथ क्रीड़ा करने आते थे। अहा ! तीर्थंकर का सहवास किसे अच्छा नहीं लगेगा ? उन देवकुमारों के साथ पार्श्वप्रभु भिन्न-भिन्न प्रकार के खेल खेलते थे और कभी-कभी धर्म की चर्चा करके आत्मानुभव का रहस्य भी समझाते थे।

अहा ! उन बाल तीर्थंकर के श्रीमुख से जब आत्मा के अनुभव की धारा प्रवाहित होती होगी, तब वह वाणी सुनकर लोग कितने आनन्दित होते होंगे ? उनकी मुद्रा के दिव्य शान्तभाव मुमुक्षु को अतीन्द्रिय आत्मसुख की प्रतीति उपजाते थे। केवलज्ञान होने पर तो क्या कहना? परन्तु तीर्थंकर प्रकृति का उदय आने से पूर्व भी उनके निमित्त से धर्मवृद्धि होने लगी। धन्य अवतार !

उन पार्श्वप्रभु को जन्म से ही मति-श्रुत अवधि तीन ज्ञान और क्षायिक सम्यग्दर्शन था। उनका स्वभाव अति सौम्य था। आठ वर्ष की आयु होने पर वे पाँच अणुव्रत का पालन करने लगे। किसी दूसरे के पास विद्या सीखने तो उन्हें जाना ही नहीं था; क्योंकि आत्मविद्या को जाननेवाले उन भगवान में अन्य सर्व विद्यायें तो स्वयमेव आ गई थीं; साथ ही उनकी चैतन्यविद्या में भी वृद्धि हो रही थी।

युवा राजकुमार को देखकर एकबार माता-पिता ने उनसे विवाह का अनुरोध किया; परन्तु पार्श्वकुमार ने अनिच्छा प्रदर्शित की। माताजी ने गद्‌गद् होकर कहा – हे कुमार ! मैं जानती हूँ कि तुम्हारा अवतार वैराग्य हेतु है, तुम तीर्थंकर होनेवाले हो और उससे मैं अपनी कुक्षि को धन्य मानती हूँ; परन्तु पूर्वकाल में ऋषभादि तीर्थंकरों ने भी विवाह करके जिसप्रकार माता-पिता की इच्छा पूर्ण की थी, तद्नुसार तुम भी हमारी इच्छा पूर्ण करो।

तब पार्श्वकुमार गम्भीरतापूर्वक बोले – हे माता ! ऋषभदेव की बात और थी, मैं प्रत्येक विषय में उनके बराबर नहीं हूँ। उनकी आयु तो बड़ी लम्बी थी और मेरी आयु मात्र सौ वर्ष की है। मुझे तो अल्पकाल में ही संयम धारण करके अपनी आत्मसाधना पूर्ण करना है; इसलिये मुझे सांसारिक बन्धनों में पड़ना उचित नहीं है। वैरागी राजकुमार की बात सुनकर माता-पिता के नेत्रों में अश्रु छलक आये; कुछ देर तक निराश रहकर अन्त में उन्होंने समाधान कर लिया। वे भी सुज्ञ थे, उन्होंने विचार किया कि पार्श्वकुमार तो तीर्थंकर बनने को अवतरित हुए हैं। सांसारिक भोगों के लिये उनका अवतार नहीं है, उनका अवतार तो मोक्ष की साधना के लिये है और हमें भी उसी मार्ग पर जाना है।

सर्प युगल के उद्धार की घटना

एकबार पारसकुमार वनविहार करने निकले। साथ में उनका मित्र सुभौमकुमार भी था। राजकुमार पार्श्वनाथ को देखकर प्रजा अतिप्रसन्न थी। अरे, वन के पशु-पक्षी भी प्रभु को देखकर आश्चर्य में पड़ जाते और शान्तचित्त से उन्हें निरखते कि अहा ! यह कोई महान पुरुष हैं, जिन्हें देखकर हमारा भय दूर हो जाता है और शान्ति मिलती है। वन के वृक्ष और पुष्प भी प्रभु को देखकर खिल उठते थे। वन की शोभा देखते हुए राजकुमार विचर रहे हैं और विचार रहे हैं कि अब मेरा वनविहारी बनने का समय निकट आ गया है। ऐसी उत्तम भावनापूर्वक वन में विचर रहे थे कि इतने में एक घटना हुई। उन्हें एक तापस बाबा दिखायी दिया। कौन है वह तापस ? यह जानने के लिये हमें उनके पूर्वभवों पर दृष्टिपात करना होगा।

पार्श्वनाथ भगवान पूर्वभव में जब अग्निवेग मुनि थे, तब उनके भाई कमठ का जीव अजगर होकर उन्हें निगल गया था और फिर मरकर नरक में गया था। पश्चात् वह कमठ का जीव शिकारी भील हुआ और उसने

वज्रनाभि मुनि को बाण से छेद डाला, पश्चात् सिंह होकर आनन्द मुनि को खा गया। वहाँ से पाँचवें नरक में जाकर उसने घोर दुःख सहन किये और तीन सागर तक तिर्यंच पर्याय में भटकता फिरा। अन्त में वही जीव महिपाल नगरी में महिपाल नाम का राजा हुआ। पार्श्वनाथ की माता वामादेवी इसी महिपाल राजा की ही पुत्री थी, इसलिये पार्श्वकुमार उसके दौहित्र (पुत्री के पुत्र) हुए। महिपाल की रानी का देहान्त होने पर दुःख के कारण वह तापस बन गया; सात सौ तापस उसके शिष्य थे। वह अज्ञानजन्य कुतप करता था। उससमय अपने सात सौ तापस शिष्यों के साथ उसने वाराणसी नगरी में डेरा डाला था और होम/यज्ञ कर रहा था। अग्नि में बड़े-बड़े लक्कड़ जल रहे थे।

इतने में पार्श्वप्रभु वनविहार करते-करते वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने महिपाल तापस को देखा। उसे देखकर पार्श्वकुमार ने वन्दन-नमस्कार नहीं किया। अरे, सामान्य श्रावक भी कदापि कुगुरु को नमन नहीं करते; फिर यह तो पार्श्व तीर्थंकर थे, वे कुगुरु को नमस्कार कैसे करते ?

राजकुमार ने उसका आदर नहीं किया, इसलिये महिपाल तापस के मन में क्रोध आ गया, मानों पूर्वभव के क्रोध संस्कार भड़क उठे। अरे, मैं महान तापस बाबा ! और इस राजकुमार का नाना हूँ, फिर भी यह मुझे नमस्कार तक नहीं करता ? इसे अपने राज्य का अभिमान होगा, परन्तु मैं भी तो मेरा राज्य छोड़कर तापसी बना हूँ। इसप्रकार वह अज्ञानी गुरु मन ही मन क्रोध करने लगा।

शान्त एवं गम्भीर पार्श्वकुमार तो ज्यों के त्यों शान्तिपूर्वक खड़े रहे। उनका चित्त अत्यन्त दयालु था; परन्तु मिथ्यागुरु वह तापस बिना विचारे ही क्रोध में आ गया और कहने लगा। मैं महान तपस्वी और इस राजकुमार पार्श्व का नाना हूँ, तथापि यह कुमार मुझे नमस्कार किये बिना अविवेकी की भाँति खड़ा है।

तब पार्श्वकुमार के मित्र सुभौमकुमार कहने लगे कि हे बाबाजी ! मैं गुरु हूँ और महान तपस्वी हूँ – ऐसा मानकर आप भारी अभिमान कर रहे हैं; परन्तु आपको खबर नहीं है कि मिथ्यात्वसहित किये गये कुतप से और हिंसा से जीव का कितना अहित होता है ? शरीर एवं कषायों से भिन्न आत्मा का अनुभव जबतक न हो, तबतक सच्चा तप नहीं होता। आपके इस अज्ञानमय तप में छहकाय के जीवों की हिंसा होती है, इसलिये यह कुतप है। इसमें आत्मा का किंचित् भी हित नहीं है।

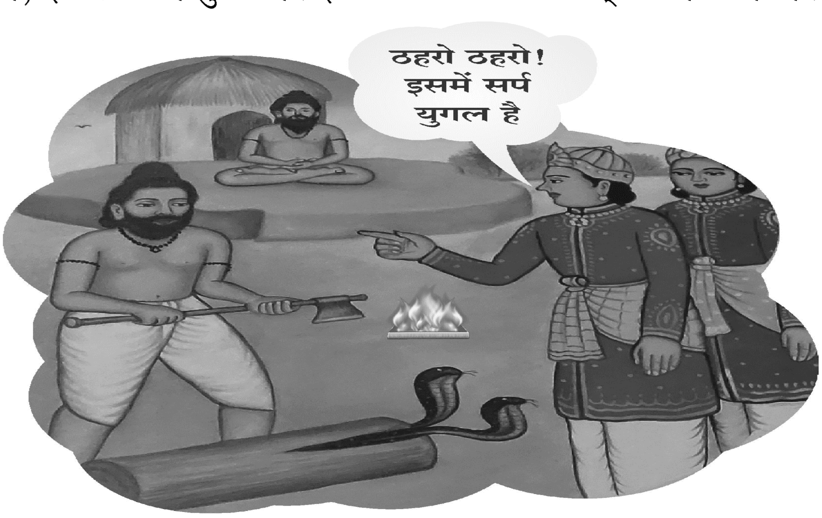

सुभौमकुमार की बात सुनकर महिपाल को और अधिक क्रोध आया। वह कहने लगा – तू मुझे उपदेश देनेवाला कौन ? यह राजकुमार तो अभी छोटा बच्चा है, इसे मेरे तप का क्या पता ? ऐसा कहकर वह अज्ञानी कुल्हाड़ी द्वारा लक्कड़ फाड़-फाड़कर अग्नि में डालने लगा। एक बड़ा लक्कड़ जब वह अग्नि में डालने लगा कि इतने में.... राजकुमार पार्श्वप्रभु हाथ उठाकर गम्भीर स्वर में बोले – **'ठहरो....ठहरो.... इस लकड़ी को अग्नि में मत डालो !'** (उन्होंने अवधिज्ञान से जान लिया था कि इस लक्कड़ में एक सर्पों का जोड़ा बैठा है, वह कुल्हाड़ी से कट

गया है और अभी अग्नि में भस्म हो जायेगा। इसलिये वे दयार्द्र होकर बोल उठे कि ठहरो)

अज्ञानी तापस क्रोधित होकर बोला – तू मुझे रोकनेवाला कौन ? (उसे कहाँ खबर थी कि इस लकड़ी में नाग-नागिन का जोड़ा बैठा है।)

राजकुमार पार्श्वप्रभु ने कहा – आप जो लकड़ी काटकर अग्नि में होमना चाहते हैं, उसमें नाग-नागिन का जोड़ा बैठा है, वे कट गये हैं और अग्नि में जल जायेंगे – ऐसी जीव हिंसा मत कीजिये।

अवधिज्ञानी राजकुमार पार्श्वप्रभु की बात सुनकर भी उस तपस्वी को विश्वास नहीं हुआ; बोला–

तू कौन ऐसा त्रिकालज्ञानी हो गया, जो तुझे इस लकड़ी में सर्प बैठे दिख रहे हैं ? व्यर्थ ही होम में विघ्न करता है।

तब सुभौमकुमार ने कहा – बाबाजी ! यह राजकुमार पार्श्वप्रभु अवधिज्ञानी हैं; इनका वचन कभी असत्य नहीं होता, आपको विश्वास न आता हो तो लकड़ी फाड़कर देख लीजिये।

महिपाल तापस ने (जो कमठ का जीव है) क्रोधपूर्वक उस लकड़ी को फाड़ा तो भीतर से दो तड़पते हुए सर्प निकले। उनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे और वेदना से तड़प रहे थे। वे दोनों नाग-नागिन पार्श्वप्रभु की ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे मानों दु:ख से छुड़ाने की प्रार्थना कर रहे हों।

सर्पयुगल को देखकर लोग चकित रह गये, यह घटना चारों ओर चर्चा का विषय बन गई। महिपाल तापस भी क्षणभर को स्तब्ध हो गया।

प्रभु ने सर्प युगल पर दृष्टि डाली; जिससे दोनों को अत्यन्त शान्ति का अनुभव हुआ। पार्श्वप्रभु धीर गम्भीर स्वर में बोले – अरे ! जीवों का अज्ञान तो देखो ! जहाँ ऐसी जीवहिंसा हो वहाँ कभी धर्म हो सकता है ?

तापस अभिमानपूर्वक बोला – ठीक है, यह उपदेश कहीं और जाकर देना। तुझे क्या पता कि मैं सात सौ तापसों का गुरु हूँ।

उसकी अविवेकपूर्ण बात सुनकर राजकुमार पार्श्वप्रभु के साथ आये सुभौमकुमार कहने लगे – अरे, बाबा ! हम न तो आपको गुरु मानते हैं और न आपका तिरस्कार करते हैं; परन्तु आप सर्वज्ञ-वीतराग देव और उनका कहा हुआ वीतरागी अहिंसारूप मार्ग छोड़कर तथा मिथ्यात्व एवं क्रोधादि कषायवश होकर यज्ञ के नाम पर आप छहकाय के जीवों की हिंसा में प्रवर्त रहे हैं और उस मिथ्यामार्ग द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, वह तो मात्र भूसा में से चावल प्राप्त करने की आशा जैसा अज्ञान है; इसलिये हिंसामय अज्ञानमार्ग को छोड़ो और सच्चे ज्ञानमार्ग को ग्रहण करो। आपके प्रति हमें अति स्नेह है, क्योंकि पूर्वभव में आप पार्श्वकुमार के भ्राता थे; इसलिये आप से यह हित की बात कर रहे हैं। आशा है कि आप शान्त चित्त से विचार कर हित की बात को ग्रहण करेंगे और अहितकर अज्ञानमार्ग को त्याग देंगे।

अहा, कैसा हितकारी उपदेश ! भावी तीर्थंकर की उपस्थिति में ऐसा सुन्दर वीतराग-धर्म का उपदेश सुनकर भी उस पापी कमठ के जीव ने सत्य धर्म अंगीकार नहीं किया; अरे, साक्षात् भावी तीर्थंकर सन्मुख खड़े होने पर भी उस कुगुरु का क्रोध शान्त नहीं हुआ। **जीव स्वयं भावशुद्धि न करे; तो तीर्थंकर भी उसका क्या कर सकते हैं?** यद्यपि गहरे-गहरे उसे आभास तो हो रहा था कि इस उत्तम पुरुष के समक्ष मैं कोई भूल कर रहा हूँ, किन्तु क्रोध तथा अज्ञान के कारण वह सच्चे वीतरागधर्म को स्वीकार नहीं कर सका। अभी धर्म की प्राप्ति होने में उसे कुछ समय लगना था। अन्त में तो वह इन्हीं भगवान की शरण में आकर सच्चा धर्म अंगीकार करेगा।

एक ओर कटे हुए दोनों सर्प तड़प रहे हैं और दूसरी ओर उस सर्पयुगल

की हिंसा करनेवाला कुगुरु खड़ा है तथा उन्हीं के निकट खड़े उनका उद्धार करनेवाले जगतगुरु वीतराग धर्म का स्वरूप समझा रहे हैं। दोनों सर्पों ने दयामूर्ति भगवान के दर्शन करके शान्ति प्राप्त की और उनके श्रीमुख से वीतरागधर्म का उपदेश सुनकर अपने को धन्य अनुभव करने लगे।

अति गम्भीर ऐसे पार्श्वकुमार कहने लगे – हे सर्पयुगल ! भले ही इस अज्ञानी तपस्वी की कुल्हाड़ी से तुम्हारे शरीर कट गये हैं, परन्तु तुम क्रोध नहीं करना; क्योंकि पूर्वभव में क्रोध करने के कारण तुम्हें यह सर्प का भव मिला है; किन्तु अब क्रोध त्यागकर क्षमाभाव धारण करना और पंचपरमेष्ठी भगवान की शरण लेना। ऐसा कहकर पार्श्वप्रभु ने उन्हें धर्म श्रवण कराया। दोनों नाग-नागिन अत्यन्त शान्तिपूर्वक सुन रहे थे। अहा! भावी तीर्थंकर के दर्शन से तथा उनकी वाणी सुनकर वे अपना कष्ट भूल गये और शान्तभाव धारण करके अत्यन्त उपकारबुद्धि से प्रभु-सन्मुख देखते रहे। उस सर्प के मुँह से विष के बदले मानों अमृत झर रहा था कि अहा, हम जैसे विषैले जीवों को भी प्रभु ने करुणापूर्वक सच्चा धर्म समझाया और हमारा कल्याण किया।

धन्य है इन प्रभु को ! ऐसा विचारते हुए वे दोनों सर्प मानों भक्ति से सिर झुका रहे थे और प्रभु के नेत्रों से तो अमृत झरता था। प्रभु के शान्तरस झरते वचन सुनकर नाग-नागिन दोनों जीव अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हुए और प्रभु के चरणों में शरीर त्यागकर भवनवासी देवों में धरणेन्द्र देव तथा पद्मावती देवी हुए। अवधिज्ञान से भगवान का उपकार जानकर वे भक्ति करने लगे कि धन्य है जिनधर्म ! धन्य हैं पार्श्व-प्रभु ! कि जिन्होंने हमें सर्प से देव बनाया और संसार से मुक्त होने के लिये जैनधर्म का मार्ग बतलाया।

देखो तो सही, क्षमावन्त आत्मा के संसर्ग से नाग जैसे विषधर जीव

भी क्रोध छोड़कर क्षमावान बन गये और शरीर के टुकड़े कर देनेवाले कुगुरु के प्रति भी क्रोध न करके क्षमाभाव से शरीर त्यागकर देव हुए। धन्य है वीतरागमार्ग की क्षमा को।

ऐसे वीतराग धर्म का श्रवण करके भी दुष्ट कमठ के जीव ने उसका ग्रहण नहीं किया, परन्तु इसने मेरा अपमान किया है – ऐसी मान्यतापूर्वक उल्टा क्रोध किया। दोनों सर्प तो धर्म को प्राप्त हुए, परन्तु वह महिपाल तापस धर्म प्राप्त नहीं कर सका; वह क्रोध पूर्वक मरकर 'संवर' नामक ज्योतिषी देव हुआ। कुतप के कारण वह निचली श्रेणी का देव हुआ।

अब इधर पार्श्वकुमार वाराणसी नगरी में आत्मज्ञानसहित वैराग्यमय जीवन जी रहे हैं और सर्व जीव उनके दर्शन से सुख प्राप्त करते हैं।

राजकुमार पार्श्वनाथ – वैराग्य एवं दीक्षा

एकबार पौष कृष्णा एकादशी के दिन पार्श्वकुमार राजसभा में बैठे थे और उनका जन्मदिवस मनाया जा रहा था। देश-देशान्तर के राजाओं की ओर से उत्तमोत्तम वस्तुओं की भेंट आ रही थी।

अयोध्या के महाराजा जयसेन भी उत्तम रत्न एवं हाथी आदि वस्तुयें भेंटस्वरूप लेकर आये हैं। पार्श्वप्रभु के दर्शन करने से उन्हें सहज ही स्मरण हो आया कि इसीप्रकार असंख्य वर्ष पूर्व भगवान ऋषभदेव आदि (अजितनाथ, अभिनन्दन स्वामी, सुमतिनाथ तथा अनन्तनाथ) पाँच तीर्थंकरों का अवतार अयोध्या में हुआ था।

पूर्वकाल में अयोध्या नगरी में हुए तीर्थंकरों का वर्णन सुनकर भगवान पार्श्वकुमार गम्भीर विचारों में डूब गये। उसी समय उन्हें मतिज्ञानावरण का सातिशय क्षयोपशम वृद्धिंगत हुआ। वृद्धिंगत ज्ञानवैभव में पूर्वकाल के अनेक भवों का साक्षात्कार हुआ अर्थात् जातिस्मरण ज्ञान हुआ और वे संसार से विरक्त हो गये –

अरे ! पूर्वकाल में स्वर्गलोक के वैभव का भी मैं अनेकों बार उपभोग कर चुका है, तथापि इनसे तृप्ति नहीं हुई; बाह्य पदार्थों से कभी तृप्ति होती ही नहीं है। अहा, धन्य हैं वे ऋषभादि तीर्थंकर भगवन्त कि जिन्होंने संसार छोड़कर मोक्षपद प्राप्त कर लिया। **तुझे तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ, उससे क्या लाभ हुआ ? 'किं जात: तीर्थकृत नाम बन्धनात्?'** मुझे जगत के सामान्य मनुष्यों की भाँति संयमरहित काल गँवाना उचित नहीं है। ऋषभादि जिनवर जिस मार्ग पर चले उसी मार्ग पर मुझे जाना है; इसलिए अब आज ही मैं दीक्षा लेकर मुनि होऊँगा और अपनी आत्मसाधना पूर्ण करूँगा।

इसप्रकार भव से विमुख और मोक्ष के सन्मुख हुए कुमार वैराग्य भावना भाने लगे – **शरीर तो जीवनरहित है, उसमें चेतना नहीं है; ज्ञान-दर्शनमय चेतना ही मेरा जीवन है,** मैं सदा ज्ञान-दर्शन स्वरूप एक शाश्वत जीव हूँ, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है; इसलिये सर्व का ममत्व छोड़कर मैं अपने चिदानन्द स्वरूप में ही लीन होता हूँ। इसप्रकार वैरागी कुमार चारित्र ग्रहण करने को तत्पर हुए कि चारित्रमोह की सेना थरथर काँपने लगी। दीक्षा का उत्सव करने हेतु इन्द्रादि देव आ पहुँचे; लौकान्तिक देव एकावतारी हैं वे भी आये और कुमार के वैराग्य का अनुमोदन किया।

दीक्षा के लिये तत्पर हुए कुमार ने माता के पास जाकर कहा – हे माता ! अब मैं चारित्र साधना द्वारा केवलज्ञान प्रकट करने जाता हूँ। उसीप्रकार पिताजी की आज्ञा लेकर कुमार 'विमला' नामक शिविका में आरूढ़ होकर वन में गये और स्वयं दीक्षा लेकर आत्मध्यान करने लगे। कुमार ने तीस वर्ष की आयु में अपने जन्म के दिन ही दीक्षा ग्रहण की; उनके साथ अन्य तीन सौ राजाओं ने जिनदीक्षा ले ली। अहा ! तीन सौ मुनियों से भरा हुआ वह दीक्षावन अद्‌भुत वीतरागता से सुशोभित था। वन का वह शान्त-वीतरागी वातावरण मानों वीतरागता को ही

प्रसिद्ध कर रहा था। दिगम्बर मुद्राधारी उन मुनिराज के वस्त्र तो नहीं थे और अन्तर में मोह भी नहीं था। निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप सहज दशा से वे महात्मा शोभायमान थे।

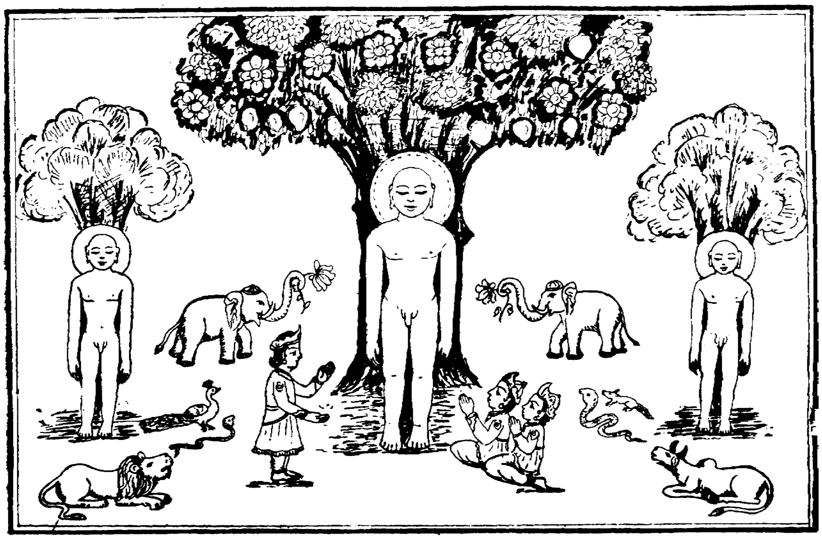

प्रभु को ध्यान में तुरन्त ही सातवाँ गुणस्थान प्रकट हुआ और मन:पर्ययज्ञान भी खिल उठा। अनन्त गुण मानों एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहे हों – इसप्रकार शीघ्रता से विकसित होने लगे। मौनरूप से वे पार्श्वमुनिराज आत्मा का निजकार्य साधने लगे। सर्वप्रथम गुल्मखेटनगर के ब्रह्मदत्त (अथवा धन्य) राजा ने पार्श्व मुनिराज को आहारदान देकर अपने आप को धन्य अनुभव किया।

शरीर और आत्मा की भिन्नता जाननेवाले तथा शत्रु एवं मित्र में समभाव रखनेवाले वे पारसमुनिराज अन्तर में बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निजस्वरूप को ध्याते थे और अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते थे। उनके निकट सिंह और हिरण, सर्प और मोर आदि जीव भी शान्तिपूर्वक एकसाथ बैठते और एक-दूसरे के मित्र बन जाते थे। प्रभु को देखकर वे पशु भी प्रसन्न हो जाते थे।

संवर देव द्वारा उपसर्ग और मुनिराज पार्श्वप्रभु को केवलज्ञान प्राप्ति

इसप्रकार मुनिदशा में आत्मध्यानसहित विचरते-विचरते चार महिने बीत गये। मुनिराज की शुद्धता में वृद्धि होते-होते केवलज्ञान की तैयारी हुई। एकबार वे मुनिराज सात दिन का ध्यानयोग धारण करके कार्योत्सर्गपूर्वक ध्यान मग्न खड़े थे। **उनकी मुद्रा दर्शनीय थी, वे स्वयं ही साक्षात् मोक्षमार्ग थे;** काया की माया को भूलकर स्वरूप में लीन होकर, वे निर्ग्रन्थ दशा द्वारा भव का अन्त कर रहे थे। जगत की बाह्यदृष्टि छोड़कर निजस्वरूप के अवलोकन में तल्लीन थे। इतने में एक घटना घटी।

आकाशमार्ग से एक देव विमान जा रहा था; ज्यों ही वह विमान मुनिराज के ऊपर आया कि अचानक अटक गया। नीचे पार्श्वनाथ जैसे महामुनिराज तपस्या कर रहे हों, उन्हें वन्दन किये बिना वह विमान कैसे आगे बढ़ सकता था ? उस विमान में बैठे हुए देव ने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु विमान चला नहीं। कौन है वह देव ? आप जानते हैं। – वह तो संवरदेव था, अपना पुराना परिचित कमठ का जीव।

संवरदेव ने विमान से बाहर आकर देखा तो पार्श्वमुनिराज ध्यानमग्न हैं। बस, उन्हें देखते ही वह क्रोध से आग-बबूला हो उठा कि अवश्य इसी ने मेरे विमान को रोका है। वह भयंकर विकराल रूप धारण करके मुनिराज के सामने आ खड़ा हआ, मानों इसी क्षण उनको खा जायेगा। इसप्रकार अत्यन्त क्रोध से मुँह फाड़कर बोला–

अरे मायावी! तूने मंत्रबल से मेरे विमान को क्या रोक रखा है ? शीघ्र ही विमान को छोड़ दे, नहीं तो तुझे भस्म कर दूँगा ! ऐसा कहकर वह मुँह से अग्नि की लपटें निकालने लगा। परन्तु कौन बोले ? मुनिराज तो ध्यान में लीन हैं; वे न तो कुछ बोले और न हिले-डुले; उनका रोम

तक नहीं हिला। कमठ! स्वयं ही अपने क्रोध से जल रहा है, वह क्रोध मुनिराज को नहीं जला सकता ! कमठ द्वारा फेंकी गई आग की लपटें प्रभु से दूर ही रहती; क्योंकि मुनिराज तो अपने उपशमरस में डूबे हुए हैं।

अग्नि की ज्वालाओं का मुनिराज पर कोई प्रभाव न होने से वह संवरदेव और भी क्रोधित हुआ पर्वत जैसे बड़े-बड़े पत्थर उठाकर मुनिराज पर फेंकने लगा। धड़ाधड़ पत्थरों की वर्षा होने से धरती काँप उठी। वन के प्राणी काँपने लगे और धरणेन्द्र का आसन भी डोल उठा; किन्तु मुनिराज तो निष्कम्प आत्मध्यान में लीन थे। पत्थरों की वर्षा हो ऐसी विक्रिया संवरदेव ने की, परन्तु मुनिराज का बाल भी बाँका नहीं हुआ, उनके ऊपर पत्थर का एक कण भी नहीं गिरा – ऐसा उनका अतिशय था। तीर्थंकर के शरीर पर कोई सीधा उपसर्ग नहीं कर सकता। बाह्य में संवर देव विशाल पत्थर उखाड़कर फेंक रहा था, किन्तु वे पत्थर तो प्रभु से दूर ही रहते थे और प्रभु तो अन्तर में ध्यान द्वारा कर्मरूपी पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर रहे थे।

पत्थरों की वर्षा में भी प्रभु जब अडिग रहे, तब संवरदेव ने मूसलाधार पानी बरसाना प्रारम्भ किया, मानों समस्त पृथ्वी डूब जायेगी – ऐसा समुद्र जैसा पानी हिलोरें लेने लगा। वन में चारों ओर हाहाकार मच गया। पशु भयभीत होकर प्रभु की शरण में आ गये। संवरदेव क्रोधपूर्वक पार्श्वप्रभु पर जो घोर उपसर्ग कर रहा था उसे प्रकृति भी मानों सहन नहीं कर सकी। धरणेन्द्र का आसन काँपने लगा – 'अरे ! यह मेरा आसन क्यों डोल रहा है ? अवधिज्ञान से उसे पता चल गया कि हम पर परम उपकार करने वाले पार्श्वमुनिराज पर इस समय संवरदेव घोर उपसर्ग कर रहा है। तुरन्त धरणेन्द्र और पद्मावती वहाँ पहुँचे और उपसर्ग दूर करने में तत्पर हुए।

एक ओर संवरदेव भयंकर द्वेषपूर्वक उपसर्ग कर रहा है तो दूसरी ओर धरणेन्द्र तथा पद्मावती भक्ति के रागपूर्वक प्रभु की सेवा-सुश्रूषा में लगे हैं। मुनिराज तो दोनों से परे अपनी चैतन्यसाधना में ही तत्पर हैं। **'शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता'** उन्हें न तो संवरदेव के प्रति द्वेष है और न धरणेन्द्र-पद्मावती के प्रति राग; बाह्य में क्या हो रहा है उसका भी उन्हें लक्ष्य नहीं है। बाह्य में पानी की घनघोर वर्षा हो रही है तो प्रभु के अन्तर में आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा है।

प्रिय पाठको ! इस समय मुनिराज पर ऐसा उपसर्ग देखकर तुम्हें कदाचित् उस कमठ के जीव पर (संवरदेव पर) क्रोध आ जाता होगा। किन्तु ठहरो ! तुम उस पर क्रोध मत करो !! वह जीव शीघ्र ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करके धर्मात्मा बननेवाला है। जिन पार्श्वनाथ पर वह उपसर्ग कर रहा है, उन्हीं पार्श्वप्रभु की शरण में आत्मा का अनुभव करके वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा और तब उसके प्रति बहुमान जागृत होगा कि वाह ! **धन्य है वह आत्मा कि जिसने क्षणमात्र में परिणामों का परिवर्तन करके आत्मानुभव किया।** परिणामों को क्षणभर में बदला जा सकता है। क्रोध कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है कि वह नित्य स्थिर रहे। उस क्रोध से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उपसर्ग के समय पार्श्वनाथ ने भी कहीं कमठ के जीव पर क्रोध नहीं किया था; – क्रोध किया होता तो केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। **इस घटना के द्वारा मौनरूप से पार्श्वप्रभु ऐसा उपदेश देते हैं कि हे जीवो ! तुम उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहीं करना, तुम तो शान्तभाव से अपनी आत्मसाधना में अडिग रहना।** कहा भी है –

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं;
वन्दे चक्री तथापि न करे मान जो।
देह जाय पण माया थाय न रोम में;
लोभ नहीं हो प्रबल सिद्धि निदान जो।।

ऐसी अपूर्व मुनिदशा में प्रभु वर्त रहे हैं। धन्य उनकी वीतरागता ! धन्य उनकी आत्मसाधना !! इधर संवरदेव तो मानों मुनिराज को पानी में डुबा दूँ – इसप्रकार मूसलाधार पानी बरसा रहा है; धरणेन्द्र और पद्मावती अत्यन्त भक्तिपूर्वक पानी में कमल की रचना करके प्रभु को पानी से ऊपर रख रहे हैं और विशाल फण द्वारा छत्र तान रहे हैं। अन्तर में परभाव से अलिप्त रहनेवाले मुनिराज बाह्य में पानी से भी अलिप्त ही रहे।

अहा ! मुनिराज पार्श्वप्रभु तो आत्मसाधना से नहीं डिगे सो नहीं डिगे। सात दिन तक उपसर्ग करके अन्त में कमठ थक गया; अन्तिम प्रयत्न के रूप में उसने भयंकर गर्जना के साथ बिजली और बादलों की गड़गड़ाहट की। बाह्य में बिजली की चमक हुई, ठीक उसी समय प्रभु के अन्तर में केवलज्ञान की दिव्यज्योति त्रिलोक को प्रकाशित करती हुई जग उठी। अचानक ही सर्व उपसर्ग विलुप्त हो गये और सर्वत्र आनन्द-आनन्द छा गया। वह दिन था चैत्र कृष्णा चतुर्थी का।

धरणेन्द्र और पद्मावती जिस उपसर्ग को दूर करने की चेष्टा कर रहे थे, वह कार्य केवलज्ञान के प्रताप से अपने आप पूर्ण हो गया। मुनिराज पार्श्वप्रभु उपसर्ग-विजेता होकर केवली बने। केवली को उपसर्ग नहीं होता। उपसर्ग समाप्त होते ही धरणेन्द्र-पद्मावती का कार्य भी समाप्त हो गया; वे भगवान के केवलज्ञान का दिव्य अतिशय देखकर अति आनन्दपूर्वक तीर्थंकर भगवान पार्श्वप्रभु की स्तुति करने लगे –

"अहा प्रभु ! आपके केवलज्ञान की महिमा अद्भुत है।

हे देव ! आप समर्थ हो, हम आपकी रक्षा करनेवाले कौन होते हैं?

सच्ची बात तो यह है कि प्रभो ! आपके प्रताप से हमें धर्म प्राप्त हुआ और हमारी संसार के घोर दुःखों से रक्षा हुई है, परन्तु हम यह भी अपने अवधिज्ञान से जान रहे हैं कि प्रभो ! आपके नाम के साथ हमारा नाम जोड़कर अज्ञानी जन भविष्य में आपके साथ

हमें भी पूजने लगेंगे। परन्तु पूज्यनीय तो मात्र आप ही हैं अथवा आप समान वीतरागी देव ही हैं।

इसी प्रकार हमारी पूर्व पर्याय जो सर्प की थी, हमने आपके उपसर्ग निवारण के विकल्प से अपनी विक्रिया भी सर्परूप की थी, वास्तव में वह तो आपकी मुनिदशा का रूप था, अज्ञानी जगत उसी रूप आपकी प्रतिमा विराजमान करके पूजने लगेगा – यह सब हमें, हमारे मिथ्या विकल्पों का ही फल लगता है।" – इसप्रकार स्तुति की।

बलिहारी है मिथ्यात्व की, कि आज एकमात्र वीतरागता के धारक श्री पार्श्वनाथ प्रभु की जिनप्रतिमा के भी इस अज्ञानी जगत ने भेद कर दिए हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह अज्ञानी जगत मूर्ति में मूर्तिमान के दर्शन न करके अपनी कर्तृत्व-भोक्तृत्व की इच्छा पूर्ति हेतु अपनी मिथ्या मान्यता का पोषण करते हुए कोई संकटहरण, कोई चिंतामणि, कोई विघ्नहरण इत्यादि अनेक नामों से पूजते हुए आशा करते हैं कि पार्श्वनाथ हमारे सब कष्ट दूर कर देंगे।

पर यह नहीं जानते कि हमारे लौकिक कष्ट भी पुण्योदय से दूर होते हैं और पुण्य का बंध पंचपरमेष्ठी की भक्ति से होता है तथा पंचेन्द्रिय भोगों की चाह से तो पाप का ही बंध होता है। **अत: तीव्र मिथ्यादृष्टि तो भगवंतों की भक्ति भी भोगों की चाह पूर्वक करता होने से पाप का ही बंध करता है।**

पार्श्व मुनिराज को केवलज्ञान होने पर इन्द्रों ने आकर भगवान की पूजा-स्तुति एवं आश्चर्यकारी दिव्य समवसरण की रचना की। भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी। जीवों के समूह प्रभु का उपदेश सुनने के लिये आने लगे।

यह सब आश्चर्यजनक घटना देखकर संवरदेव के भाव भी बदल गये; केवली प्रभु की दिव्य महिमा देखकर उसे भी श्रद्धा जागृत हुई।

क्रोध एकदम शान्त हो गया और पश्चाताप से बारम्बार प्रभु के समक्ष क्षमा-याचना करने लगा –

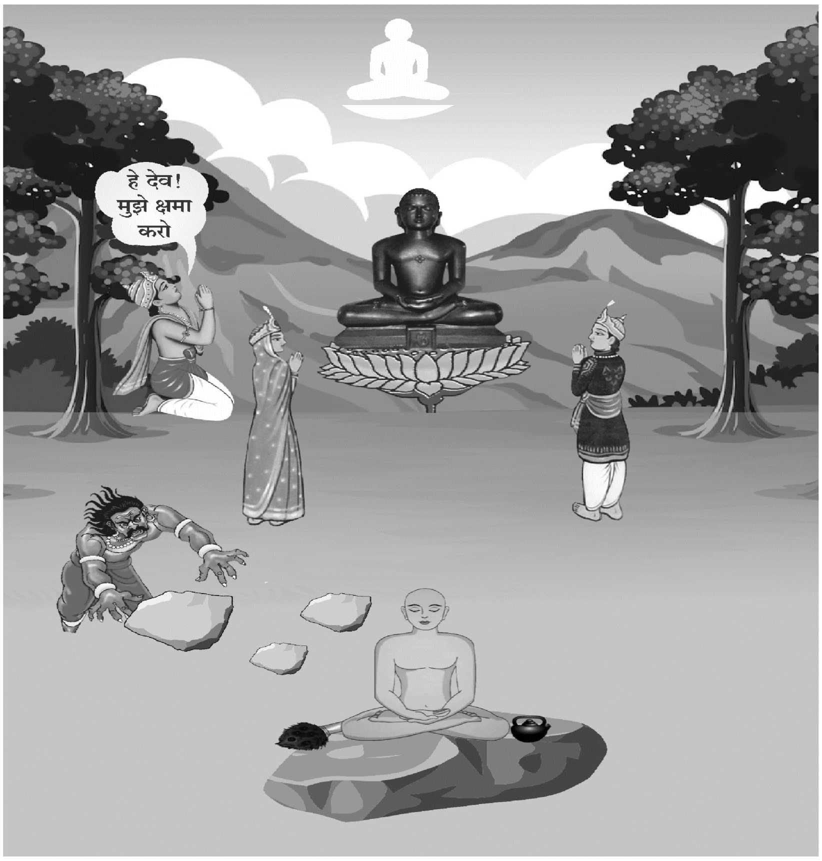

हे देव ! मुझे क्षमा करो, मैंने अकारण ही आपके ऊपर महान उपसर्ग किया, तथापि आपने किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया। कहाँ आपकी महानता और कहाँ मेरी पामरता ! ऐसे महान इन्द्र भी भक्तिपूर्वक आपकी सेवा करते हैं। इतने समर्थ होने पर भी आपने मुझ पर क्रोध नहीं किया और क्षमा धारण की। धन्य है आपकी वीतरागता! उस वीतरागता द्वारा आपने केवलज्ञान प्राप्त किया और परमात्मा बन गये। प्रभो ! मेरा अपराध क्षमा करो। मैंने अज्ञानता-पूर्वक क्रोध करके भव-भव में आपके ऊपर

उपसर्ग किये, जिससे मैं ही महान दु:खी हुआ और नरकादि की घोर यातनायें सहन कीं।

प्रभो ! अन्त में क्रोध पर क्षमा की विजय हुई। अब मैंने क्षमाधर्म की महिमा को जाना। मेरा आत्मा उपयोग स्वरूप है, वह इस क्रोध से भिन्न है – ऐसा आपके प्रताप से समझा हूँ।

समवसरण में भगवान का उपदेश सुनकर संवरदेव ने (कमठ का जीव) भेदज्ञान करके विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ। पार्श्वप्रभु के सम्पर्क से वह जीव पाप मिटाकर मोक्ष का साधक हुआ। धरणेन्द्र और पद्मावती भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। इतना ही नहीं, पूर्वभव के महिपाल तापस (कमठ का जीव) के साथ जो सात सौ कुलिंगी तापस थे, वे भी मिथ्यामार्ग को छोड़कर धर्म के सच्चे स्वरूप को समझे और भगवान के चरणों में सम्यग्दर्शन सहित उन सब ने संयम धारण किया। कुगुरु मिटकर वे सच्चे जैनगुरु बन गये। अन्य भी कितने ही जीव भगवान के उपदेश से सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए।

देखो ! महापुरुषों की महिमा ! अनेक भवों तक पार्श्वनाथ प्रभु का संग करने से कमठ के जीव का उद्धार हो गया। शास्त्रकार अलंकारिक भाषा में कहते हैं कि महापुरुषों के साथ मित्रता का तो कहना ही क्या? शत्रुरूप से उनका संग भी अन्त में हित का ही कारण होता है।

कमठ का जीव धर्म को प्राप्त हुआ और भगवान की भक्ति करने लगा; यह देखकर लोक आश्चर्य से कहने लगे – वाह ! देखो जिनप्रभु की महिमा ! कमठ को भी अन्त में तो प्रभु की शरण में आना पड़ा। जिसप्रकार मच्छ उछालें मारकर समुद्र के पानी को पीड़ित करता है, तथापि अन्त में तो वह स्वयं समुद्र के आश्रय से ही जीवित रहता है, उसीप्रकार कमठ का जीव वैरबुद्धि से अनेकभव तक स्वयं पीड़ित हुआ और पार्श्वप्रभु के जीव को पीड़ित करने की कोशिश करता रहा; परन्तु

अन्त में तो उसे प्रभु की शरण में ही धर्म की प्राप्ति हुई। प्रभु के आश्रय बिना वह कहाँ से सुखी होता ? अहा, प्रभु का ज्ञान, प्रभु की शान्ति, प्रभु की वीतरागी क्षमा का क्या कहना ? प्रभु की गम्भीरता तो समुद्र से भी महान है। हे पार्श्व जिनन्द्र! सर्व तीर्थंकर समान होने पर भी आपकी जो विशेष प्रसिद्धि दिखायी देती है वह तो एक कमठ के कारण है। ठीक ही है, क्योंकि अपकार करनेवाले शत्रुओं द्वारा ही महापुरुषों की ख्याति फैलती है। प्रभो ! संवरदेव की भयंकर विक्रिया के समय भी आप न तो अपनी शान्ति से च्युत हुए और न कमठ पर क्रोध किया। आपने तो शान्तचित्त से कमठ की विक्रिया दूर की और जगत को बतलाया कि **सच्ची विजय क्रोध द्वारा नहीं, किन्तु क्षमा द्वारा ही प्राप्त होती है।** कमठ के दुष्ट भाव के कारण उसी को हानि हुई; आपकी आत्मसाधना में तो कोई बाधा नहीं आयी। सचमुच, आपकी महिमा और आपकी शान्ति आश्चर्यजनक है !

हे प्रभो ! यह धरणेन्द्र एवं पद्मावती दोनों जीव आपके महान कृतज्ञ हैं, उपकार को माननेवाले हैं और धर्मात्मा हैं – यह देखकर रागप्रेमी लोग उसकी प्रशंसा भी कर रहे हैं; **परन्तु हमें यह खोजना पड़ेगा कि आपका उपसर्ग किसप्रकार दूर हुआ ? क्या वह धरणेन्द्र ने दूर किया अथवा आपके केवलज्ञान के प्रताप से स्वयमेव दूर हो गया ? प्रभो ! सच्चा प्रताप तो आपका है। वास्तविक पूज्य तो आप ही हैं; धरणेन्द्र और पद्मावती तो हमारी ही भाँति आपके सेवक हैं। आपके प्रताप से ही वे धर्म को प्राप्त हुए।** इसप्रकार भक्तगण अनेक रीति से प्रभु की महिमा करते और दिव्य उपदेश सुनते।

अहा, समवसरण में विराजमान तीर्थंकर मुनिराज की शोभा आश्चर्यकारी थी। वहाँ दिव्य सिंहासन होने पर भी भगवान उसका स्पर्श

किये बिना अधर-आकाश में अन्तरिक्ष विराजते थे। सिंहासन के ऊपर आकाश में विराजमान निरालम्बी भगवान को देखते ही ज्ञात होता था कि पुण्य के उत्कृष्ट फल की अपेक्षा चैतन्यगुण उच्च है। उस सिंहासन पर न बैठकर भगवान जगत को यह बतलाते थे कि पुण्यफलरूप यह सिंहासन आत्मा के लिये अपद है–अपद है। रत्नजड़ित सिंहासन होने पर भी भगवान तो उससे अलिप्त थे; उनको सिंहासन का आधार नहीं था, परन्तु उल्टी सिंहासन की शोभा भगवान के प्रताप से थी। उसीप्रकार बाह्य में तीन छत्र भले ही सुशोभित थे, परन्तु अन्तर में प्रभु के रत्नत्रय की शोभा कुछ और ही थी। देवों के दुंदुभि वाद्यों की अपेक्षा प्रभु की दिव्यध्वनि विशेष मधुर थी। प्रभु के मुख का प्रभामण्डल भले ही सूर्य-चन्द्र से अधिक दैदीप्यमान था, परन्तु उनके केवलज्ञान की चैतन्यप्रभा के अतीन्द्रिय तेज का तो सम्यग्दृष्टियों को ही अनुभव होता था।

भगवान के समवसरण में कल्पवृक्ष थे। दस प्रकार की भोगसामग्री प्रदान करनेवाले कल्पवृक्षों को देखकर मुमुक्षु को ऐसा लगता था कि अरे, यह कल्पवृक्ष तो बाह्य फल देनेवाले हैं, परन्तु सर्वज्ञदेव तो ऐसे कल्पवृक्ष हैं कि जिनकी सेवा में सम्यग्दर्शनादि चैतन्य-रत्नों की प्राप्ति होती है। इसलिए तो भव्यजन दस प्रकार की सामग्री देनेवाले कल्पवृक्षों को छोड़कर केवलज्ञानरूपी अद्वितीय कल्पवृक्ष की ओर दौड़ते थे और अपूर्व सम्यक्त्वादि रत्न प्राप्त करते थे। अहा ! प्रभु की गुणमहिमा का वर्णन कौन कर सकता है ? वह वचनगोचर नहीं है, वह तो ज्ञानियों को ही अनुभवगम्य है।

भगवान का उपदेश भी अद्भुत था, उसमें आत्मा की परम महिमा एवं उसकी आराधना करने का उपदेश दिया जाता था। भगवान ने उपदेश में क्या कहा ? वह संक्षेप में देखें –

जगत में जानने योग्य तत्त्व कौन-कौन हैं ?

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – इन नवतत्त्वों को जानना चाहिये।

इनमें से कौन से तत्त्वों का ग्रहण करें और किन्हें छोड़ें ?

शुद्ध जीव का तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष का ग्रहण करना और शेष तत्त्वों को छोड़ना। जीव सदा अपनी चेतना द्वारा जीवित रहनेवाला है।

जीव को मोक्षसुख की प्राप्ति कैसे होती है ?

आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र द्वारा मोक्षसुख होता है। जीव को पाप से नरक, पुण्य से स्वर्ग और रत्नत्रयरूप वीतराग धर्म से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

भगवान ने ऐसे मोक्षमार्ग का उपदेश दिया अर्थात् उन्होंने जिस मार्ग से स्वयं मोक्ष प्राप्त किया, वही वीतराग-मार्ग जगत को बतलाया। अनेकों जीव उस मार्ग को समझकर धर्म को प्राप्त हुए; कितने ही जीवों ने दीक्षा लेकर मुनिदशा धारण की; सिंह-हाथी-बन्दर-सर्पादि तिर्यंच जीव भी आत्मा को समझकर व्रतधारी हुए। इसप्रकार चारों ओर धर्म की जय-जयकार होने लगी।

भगवान की धर्मसभा में स्वयंभूस्वामी आदि दस गणधर, ३५० श्रुतकेवली, १०,००० उपाध्याय; १४०० अवधिज्ञानी, ७५० मन: पर्ययज्ञानी, १००० केवलज्ञानी, १००० ऋद्धिधारी मुनिवर तथा ६०० मुनिवर वाद-विवाद में निपुण थे। कुल सोलह हजार मुनिवर एवं छत्तीस हजार आर्यिकायें थीं। उनमें सुलोचना नाम की आर्यिका मुख्य थीं। श्रावक और श्राविकाओं की संख्या क्रमश: एक लाख एवं तीन लाख थीं। स्वर्ग के देव और वन के पशु भी दिव्यवाणी श्रवण करने आते थे और धर्म प्राप्त करके अपने आत्मा का उद्धार करते थे।

:: मोक्षकल्याणक ::

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने ७० वर्ष तक देश-देशान्तर में विहार किया और अन्त में सम्मेदशिखर पर पधारे। अब उन्हें मोक्ष जाने में एक मास शेष था, इसलिए उनकी वाणी एवं विहारादि क्रियायें थम गईं। पार्श्वप्रभु सम्मेदशिखर की सर्वोच्च कूट पर ध्यानस्थ खड़े थे; तृतीय एवं चतुर्थ शुक्लध्यान पूर्ण करके वे अयोगी भगवान दूसरे ही क्षण ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष पधारे। शरीर छोड़कर अशरीरी हुए, संसार दशा छोड़कर महाआनन्दरूप सिद्धदशारूप परिणमित हुए। इन्द्रों ने प्रभु का मोक्षकल्याणक मनाया।

श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन भगवान मोक्ष पधारे थे, इसलिए उसे 'मोक्ष सप्तमी' कहा जाता है।

पार्श्वनाथ भगवान का मुक्तिधाम होने से पर्वत भी आज पारसनाथ हिल के रूप में जाना जाता है। पर्वत की जिस कूट से भगवान मोक्ष पधारे, वह पत्थर की कूट भी 'पारस' के स्पर्श से 'सुवर्ण' की हो गई थी, इसलिए उसका नाम भी **'सुवर्णभद्र कूट'** पड़ा।

पारसनाथ जिनराज की स्वर्णभद्र कूट है जेह।
मन-वच-तनकर पूजहूँ शिखरसम्मेद यजेह ॥

क्षमामूर्ति हे पार्श्वजिनेश्वर ! सिद्धिधाम गिरि शिखर महान।
स्वर्णभद्र से सिद्धालय में वास किया अविचल गुणधाम ॥
निजस्वरूप को साधा प्रभुजी करके चेतनरस का पान।
आत्मसाधना करके 'हरि' भी करते पारस का गुणगान ॥

श्री पारसनाथ भगवान की जय हो....

– इसप्रकार तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवन चरित्र पूर्ण हुआ।

●

क्षेत्रपाल-पद्मावती पूजन के संबंध में विचार

कितने ही कहते हैं - चक्रेश्वरी, पद्मावती देवी जो शस्त्र धारण किये हैं, जिनशासन की रक्षक हैं तथा सेवकों की रक्षा करनेवाली हैं; प्रत्येक तीर्थंकर की एक-एक देवी है, एक-एक यक्ष हैं, इनके आराधना करने से, पूजन करने से जिनधर्म की रक्षा होती है। ये धर्मात्माओं की भी रक्षा करती हैं, इसलिये इन देवियों की और यक्षों का पूजन-स्तवन करना उचित है। देवियाँ समस्त कार्य को साधनेवाली हैं, तीर्थंकरों की भक्त हैं, इनके बिना धर्म की रक्षा कौन करेगा? इसी कारण से मंदिरों के भीतर पद्मावती का रूप, जिसकी चार भुजा व बत्तीस भुजा और अनेक शस्त्रों सहित बनाकर, उसके मस्तक के ऊपर भगवान पार्श्वनाथ स्वामी का प्रतिबिम्ब और उसके ऊपर अनेक फणों वाला सर्प का रूप बनाते हैं और बहुत अनुराग से पूजते हैं।

इस सबका परमागम से अच्छी तरह जानकर निर्णय करना चाहिये, मूर्ख लोगों के कहने में आकर चाहे-जैसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

प्रथम तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी – इन तीन प्रकार के देवों में मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि भवनत्रिक देवों में उत्पन्न ही नहीं होते हैं, स्त्री पर्याय में भी नहीं जाते हैं; पद्मावती-चक्रेश्वरी तो भवनवासिनी तथा स्त्री पर्याय में है। क्षेत्रपालादि व्यन्तर हैं। उनमें सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होगा? उनमें तो नियम से मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं **– ऐसा हजारों बार परमागम में कहा है।**

यदि इनको जैनधर्म से प्रीति है तो जिनधर्म के धारकों से अपनी पूजा-वंदना नहीं चाहेंगे। जो जैनी है और अपने को अव्रती जानता

है, वह सम्यग्दृष्टि से अपनी वंदना-पूजा कैसे करायेगा ? साधर्मियों का उपकार तो वह बिना कहे ही करेगा।

भगवान का प्रतिबिम्ब तो अपने मस्तक ऊपर रखे है तथा भगवान के भक्तों से अपनी पूजा करावे, ऐसी अविनय कोई धर्मात्मा होकर कैसे करेगा? वह तो अनेक शस्त्र धारण करके अपनी वीतराग धर्म में प्रवृत्ति को बिगाड़ता है तथा अपनी बलहीनता प्रगट दिखाता है।

जिनशासन के रक्षक एक-एक यक्ष-यक्षिणी ही कैसे कहते हो? भगवान के शासन के तो सौधर्म इन्द्र से लगाकर असंख्यात देव-देवियाँ सभी सेवक हैं। जिनके हृदय में सच्चे धर्म से प्रीति होने से पूर्वकृत अशुभकर्म निर्जर गया हो, उनका समस्त अचेतन पुद्गल राशि भी देवतारूप होकर उपकार करती है; देवता, मनुष्य उपकार करते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है?

जैनशास्त्रों में भी ऐसी कई कहानियाँ हैं कि शीलवान तथा ध्यानी तपस्वियों के धर्म के प्रसाद से देवों के आसन कंपित हुए, फिर देवों ने जाकर उपसर्ग दूर किया और अनेक प्रकार के रत्नों से धर्मात्माओं की पूजा की। ऐसी कथायें शास्त्रों में बहुत हैं, किन्तु **ऐसी कोई भी कथा नहीं है जहाँ धर्मात्मा पुरुषों ने देवों की पूजा की हो। पद्मावती, चक्रेश्वरी की भी कई कथायें हैं, जहाँ शीलवन्ती, व्रतवंतियों की देव-देवियों ने पूजा की; किन्तु ऐसा कहीं नहीं लिखा है, जहाँ शीलवन्ती व्रतवन्ती ने जाकर किसी देव-देवी की पूजा की हो।**

स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है :-

णय को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मंपि सुहासुहं मा कुणदि।।319।।

भत्तीए पुज्जमाणो विंतर देवो वि देदि जदि लच्छी।
तो कि धम्मं कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिठी।।320।।

अर्थ :- इस जीव को कोई लक्ष्मी नहीं देता है, और जीव का कोई उपकार-अपकार भी नहीं करता है। जगत में जो उपकार-अपकार करता हुआ दिखाई देता है वह अपने किये हुये शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा होता है। भक्ति पूर्वक पूजा करने से यदि व्यंतरदेव ही लक्ष्मी देवें तो दान, पूजा, शील, संयम, ध्यान, अध्ययन, तपरूप समस्त धर्म (शुभभावरूप पुण्य) क्यों किये जायें ? यदि भक्ति पूर्वक पूजा वंदना करने से कुदेव ही संसार के कार्य सिद्ध करने लगेंगे तो कर्म कुछ वस्तु ही नहीं रहेगा ? व्यंतर ही समस्त सुख को देनेवाला रहा, धर्म का आचरण निष्फल रहा।

भावार्थ :- जगत में इस जीव का जो देव, दानव, देवी, मनुष्य, स्वामी, माता, पिता, भाई, मित्र, स्त्री, पुत्र, तिर्यंच, औषधि आदि जो उपकार या अपकार करते हैं सो सभी अपने द्वारा किये गये पुण्यकर्म-पापकर्म हैं उनके उदय के आधीन करते हैं। ये सभी तो बाह्य निमित्त मात्र हैं। **ऐसा भी देखा जाता है कि कोई भला करना चाहता है, उपकार करना चाहता है किन्तु अपकार – बुरा हो जाता है; कोई बुरा करना चाहता है किन्तु उपकार – भला हो जाता है। इसलिये प्रधान कारण पुण्य-पाप कर्म हैं।**

शास्त्रों में लिखा है :- **चांडाल के अहिंसाव्रत के प्रभाव से देवों ने सिंहासन आदि बिना दिये; नीली के शील के प्रभाव से देवता सहायी हुए; सीता के शील के प्रभाव से अग्निकुण्ड जलरूप हो गया; सुदर्शन सेठ का उपसर्ग देव ने आकर टाला; और भी कितनों ही की देवों ने सहायता की, उपसर्ग दूर किये, देवों के आसन कंपायमान हुए और देवों ने आकर सहायता की**

– ऐसी हजारों कथायें प्रसिद्ध हैं।

भगवान आदिनाथ के छह महीने भोजन का अंतराय रहा, तब किसी देव ने आकर किसी को आहार देने की विधि क्यों नहीं बताई? पहले तो गर्भ में आने के 6 माह पहले ही इन्द्रादि अनेक देव भगवान की सेवा में रहते थे तथा स्वर्ग लोक से आहार, वस्त्र, वाहनादि लाने को सावधान होकर उपस्थित रहते थे; वे सब देव कैसे भूल गये? भरतादि 100 पुत्रों को तथा ब्राह्मी-सुन्दरी पुत्रियों को मुनि-श्रावक का सब धर्म पढ़ाया था, उन्होंने भी विचार नहीं किया कि – भगवान भी अब मुनि होकर आहार के लिये चर्या कर रहे हैं।

वास्तव में अंतराय कर्म का उदय मंद हुए बिना कौन सहायता करता है?

युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव – ये महावीतरागी मुनि होकर वन में ध्यान करते थे, उनको दुष्ट बैरी ने आकर अग्नि में लाल करके लोहे के आभूषण पहिनाये और उनका चाम, मांसादि भस्म हो गया तो भी किसी देव ने सहायता नहीं की।

सुकुमाल महामुनि को तीन दिन तक स्यालिनी अपने दो बच्चों सहित भक्षण करती रही, वहाँ कोई देव सहायता करने नहीं आया। उनकी माता जिसको बहुत स्नेह था वह शोक में रोने-धोने में ही लगी रही, पुत्र कहाँ चला गया है, कोई खोज-खबर ही नहीं मंगाई ?

पाँच सौ मुनियों को घानी में पेल दिया गया, वहाँ किसी देव ने सहायता नहीं की।

पद्म (राम) बलभद्र और कृष्ण नारायण जिनकी पहले हजारों देव सेवा करते थे, जब हीनकर्म का उदय आया और पुण्य क्षीण हुआ तो कोई पानी पिलानेवाला एक मनुष्य या देव भी पास

में नहीं रहा। जो सुदर्शनचक्र से नहीं मरा वह एक भील के बाण से प्राण रहित हो गया।

– ऐसे अनेक ध्यानी, तपस्वी, व्रती, संयमी आदि ने घोर उपसर्ग भोगे; उनमें से बहुतों के देव सहायी नहीं हुए और बहुतों के देव सहायी हुए हैं।

इसलिये यह निश्चित है कि – अशुभकर्म का उपशम हुए बिना तथा शुभकर्म का उदय आये बिना कोई देवादि सहायी नहीं होते हैं। स्वयं का शरीर ही शत्रु हो जाता है। खरदूषण का पुत्र शंबुकुमार जिसने बारह वर्ष तक बांस के झुरमुट में कठिन तपस्या करके सूर्यहास नाम की तलवार प्राप्त की थी, वह सहज ही लक्ष्मण के हाथ आ गई और उसी तलवार से शंबुकुमार का मस्तक कट गया। लक्ष्मण ने तो बिना जाने ही तलवार की धार का प्रयोग अभ्यासरूप में किया था, किन्तु भीतर बीहड़ में बैठे शंबुकुमार का सिर कट गया। अपने हित के लिये सिद्ध की गई विद्या ने अपना ही घात करा दिया।

पूर्वकर्म के उदय के निमित्त से ही अनेक उपकार–अपकार होते हैं। कोई देवादि पूजा करने से धन, आजीविका, स्त्री, पुत्रादि देने में समर्थ नहीं है।....

जो मंत्र-साधना, विद्या-आराधना, देव-आराधना आदि हैं वे सभी पुण्य-पाप के अनुसार ही फल देते हैं। इसलिए जो सुख के इच्छुक हैं वे दया, क्षमा, संतोष, निर्वांछकता, मंदकषायता, वीतरागता के द्वारा अकेले धर्म का ही आराधन करो, अन्य प्रकार से वांछा करके पाप बंध नहीं करो।

यदि देवों की संगति करने की ही इच्छा है तो उत्तम सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र, शची इन्द्राणी, लौकान्तिक देवों की संगति करने की भावना करो। अन्य अधम देवों की सेवा करने से क्या सिद्ध होगा?

क्षेत्रपाल आदि की पूजन का निषेध

बहुत से लोग मिथ्याबुद्धि के कारण मंदिरों में क्षेत्रपाल की स्थापना करते हैं और प्रतिदिन उनकी पूजा करते हैं। वे लोग पहले तो क्षेत्रपाल की पूजा करते हैं और क्षेत्रपाल की पूजा करने के बाद में जिनेन्द्रदेव का पूजन करते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि – जैसे पहले द्वारपाल का सन्मान करना, उसके पश्चात् राजा का सन्मान करना चाहिये। द्वारपाल बिना राजा से भेंट कौन करावेगा? वैसे ही क्षेत्रपाल-बिना भगवान से भेंट-मिलाप कौन करा सकता है?

उन मूर्खों को यह विवेक ही नहीं है कि भगवान तो मोक्ष में हैं। यह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी क्षेत्रपाल जो भगवान परमात्मा के स्वरूप को जानता ही नहीं है, उनसे कैसे मिलवा देगा और कैसे विघ्नों का नाश करेगा? वह तो स्वयं के ही विघ्नों का नाश करने में समर्थ नहीं है।

इसप्रकार विवेक रहित मिथ्यादृष्टि लोग क्षेत्रपाल का अत्यंत विपरीत रूप बनाकर वीतराग के मंदिर में पहले स्थान पर ही स्थापना करते हैं – जिसके हाथ में मनुष्य का कटा हुआ सिर तथा गदा, तलवार है, कुत्ते पर बैठा हुआ है, तेल-गुड़ खाने से क्षेत्रपाल प्रसन्न होते हैं। – ऐसा लोगों को बहकाकर क्षेत्रपाल को पुजवाते हैं तथा इनका दर्शन-पूजन करते हैं।

सो यह सब मिथ्यादर्शन और कुज्ञान का ही प्रभाव जानना।

भगवान पार्श्व जिनेन्द्र की प्रतिमा, मस्तक के ऊपर फण बिना बनाते ही नहीं हैं। भगवान पार्श्व अरहन्त के समोशरण में मस्तक के ऊपर धरणेन्द्र द्वारा फण बनाना कैसे सम्भव है? धरणेन्द्र ने तो भगवान के तपस्या करते समय मुनि अवस्था में फण मण्डप बनाया था; उसके पश्चात् अर्हन्त अवस्था में फण बनाने का कोई प्रयोजन नहीं है।

जब भगवान पार्श्व जिनेन्द्र अर्हन्त बन गये और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समोशरण की रचना की थी, तब वहाँ भगवान पार्श्व फण सहित विराजमान नहीं थे। वहाँ चार निकाय के देव, मनुष्य और तिर्यंच धर्म श्रवण-स्तवन-वंदन करते हुये बैठते हैं; इसलिये स्थापित प्रतिमा में अ्हन्त के प्रतिबिम्बों के फण कैसे सम्भव होगा? **वीतराग मुद्रा तो इस प्रकार नहीं होती।**

काल के प्रभाव से धरणेन्द्र की पूजा-प्रभावना दिखलाने को लोग विपरीत कल्पना करने लगे हैं, सो उन्हें कौन दूर कर सकता है? जैसे पाषाण की भगवान की प्रतिमा में अंगों की सुन्दरता व मस्तक की रक्षा के लिये कर्णों को लम्बा करके कन्धों से जोड़ देते हैं; उन्हें देखकर सभी धातु की प्रतिमाओं के भी कर्ण कंधों से जोड़ने लगे, सो यह तो देखा-देखी चल गई।

उसी प्रकार अर्हन्त की प्रतिमा के ऊपर फण का आकार बनाते हुए लोगों को देखकर तत्त्व को समझे बिना फण बनाने की प्रवृत्ति चल गई। फण बना देने से प्रतिमा तो अपूज्य हो नहीं जाती, क्योंकि चार प्रकार के सभी देव चारों तरफ से सदा ही भगवान की सेवा करते ही हैं। **फण मण्डप करने से ही धरणेन्द्र को पूज्य मानना वह तो देवमूढ़ता है।**

– साभार, श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ 44 से 48

श्री पार्श्वनाथ-वन्दना

लोहा पारस संगति पाकर, स्वर्ण बने पारस न बने।
पार्श्व प्रभो तव दर्शन से, मम उर में सम्यक् ज्योति जगे॥
तुझ-सी प्रभुता निज अन्तर में ही, होती है साक्षात् मुझे।
निज में ही स्थिरता पाऊँ, वन्दन प्रभु निष्काम तुझे॥

– ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्'

श्री पार्श्वप्रभु गाथा

पार्श्वप्रभु की जीवन गाथा सबको आनन्द दाता है।
भेद-विज्ञान जगाती उर में, समता भाव प्रदाता है।।टेक।।

देखो दोनों सगे भाई थे, कमठ और मरुभूति नाम।
असि और कवच समान किन्तु थी दोनों की प्रकृति अतिवाम[1]।।
योग्य जान मरुभूति को राजा ने मंत्री बना लिया।
ईर्ष्यावश अपमान समझ कर कमठ व्यर्थ ही खिन्न हुआ।।
व्यर्थ विकल्पों से अज्ञानी महा दुःख ही पाता है। पार्श्व...।।1।।

भूपति एक बार मंत्री संग बाह्य युद्ध में गया हुआ।
समझ स्वयं को ही राजा तब कमठ महामदमत्त हुआ।।
मरुभूति की सुन्दर स्त्री देख दुष्ट था ललचाया।
बीमारी का छ्ल करके तब लता कुंज में बुलवाया।।
धिक्-धिक् है इस कामभाव को महा अनर्थ कराता है। पार्श्व...।।2।।

शील भंग करके भी मूरख हरषाया अपने मन में।
पाप कमाया धर्म गँवाया अपयश पाया जन-जन में।।
नृप ने आकर जाना जब ही काला मुँह कर कढ़वाया।
जंगल में जा हुआ तापसी मिथ्यामत में भरमाया।।
जैसी करनी करता है वह फल वैसा ही पाता है।
पार्श्वप्रभु की जीवन गाथा सबको आनन्द दाता है।।3।।

भावुकता वश कभी किसी की बातों में नहिं आ जाना।
सावधान रहना जिससे फिर पड़े न पीछे पछताना।।
नव बाढ़ों का पालन करना नहीं अकेले कहिं जाना।
भूल चूक हो जाये कदाचित् सेठ सुदर्शन सम रहना।।
आत्मन्! शील धर्म लोकोत्तम भाग्यवान ही पाता है। पार्श्व...।।4।।

अरे ! मोहवश मरुभूति फिर भी तो कमठ समीप गया।
घर चलने की करे प्रार्थना भ्रात-प्रेम में मूढ़ हुआ।।
क्रोधित होकर मरुभूति पर भारी पत्थर पटक दिया।
प्राण पखेरू उड़े तुरत ही वन में हाथी जाय हुआ।।
प्रीति नहीं दुर्जन के प्रति माध्यस्थ ही भाता है। पार्श्व...।।5।।

इक मुनिवर से हाल जानकर राजा ने वैराग्य लिया।
संघ सहित सम्मेदशिखर वंदन के लिये प्रयाण किया।।
वन में जन समूह लखकर के हाथी अति अकुलाया था।
होकर मत्त उपद्रव करता जनसमूह घबराया था।
मुद्रा सौम्य देख मुनिवर की सहज शान्त हो जाता है। पार्श्व...।।6।।

मुनिवर संबोधे रे गज तू नर से तो तिर्यञ्च हुआ।
मिथ्या मोह छोड़ दे अब भी जिससे भव में दुखी हुआ।।
तू तो स्वयंसिद्ध परमातम, नित्य निरंजन देव है।
परभावों से शून्य ज्ञान-आनन्दमयी स्वयमेव है।।
भिन्न स्वाँग हैं रागादिक दुर्भाव प्रगट दुखदाता हैं। पार्श्व...।।7।।

सम्यग्दर्शन मूल धर्म का समझ धार आनन्दमयी।
जिससे मोक्ष प्रदायक चारित्र प्रगटे ज्ञान-विरागमयी।।
सुनकर दिव्य देशना गुरु की हाथी परम प्रसन्न हुआ।।
सहज उदास विषय भोगों से गज श्रावक हो जाता है। पार्श्व...।।8।।

त्रस जीवों को नहिं संहारे करुणापूरित चित्त हुआ।
सत्य अचौर्य शीलदृढ़ पाले परिग्रह माहिं विरक्त हुआ।।
यथायोग्य प्रासुक जल पीवे सूखे तृण पल्लव खावे।
देख-शोध कर मारग चाले, नहिं दुर्भाव हृदय लावे।
पाँच परमगुरु सुमरै निशदिन चित्स्वरूप निज भाता है।
पार्श्वप्रभु की जीवन गाथा सबको आनन्द दाता है।।9।।

जल पीते इकदिन कीचड़ में फँसा निकल नहिं पाया था।
लिया समाधिमरण तब ज्ञानी भेद-विज्ञान सु भाया था।।
डसा सर्प कुर्कट ने आकर जो था अरे कमठ का जीव।
बैर महादुखदायी जग में जान भव्यजन तजो सदीव।।
स्वर्ग बारहवें हाथी पहुँचा, सर्प नरक दुख पाता है। पार्श्व...।।10।।

सम्यग्दर्शन का बल देखो, नहीं वहाँ आसक्त हुआ।
जिनपूजा तत्त्वों की चर्चा करते काल व्यतीत हुआ।।
संयम की नित करे भावना नहीं योग्यता सुरगति में।
हुआ विद्याधर अग्निवेग, अरु हुई विरक्ति यौवन में।।
धारी सहज दिगम्बर दीक्षा परमानन्द विधाता है। पार्श्व...।।11।।

कमठ जीव ने अजगर होकर ध्यानमग्न मुनि को मारा।
स्वर्ग सोलवें गये मुनीश्वर, पाई कमठ नरक कारा।।
तहँ तें चयकर विदेहक्षेत्र में वज्रवीर्य गृह जन्म लिया।
वज्रनाभि चक्री पद पाकर षट् खण्डों का राज्य किया।।
एक दिवस क्षेंमकर मुनि की दिव्य देशना पाता है। पार्श्व...।।12।।

नहिं परमाणु मात्र भी मेरा, भोग रोग-सम दुखकारी।
निजानंद अमृतरस भोजी साधु दशा मंगलकारी।।
ब्रह्मचर्यमय जीवन ही है पाप शून्य, निर्द्वन्द्व सहज।
करें कष्ट की व्यर्थ कल्पना मोही, ज्ञानी धरें सहज।।
तृप्त स्वयं में चक्री चिन्ते मेरा पद तो ज्ञाता है।
पार्श्वप्रभु की जीवन गाथा सबको आनन्द दाता है।।13।।

राग तन्तु टूटा तत्क्षण ही निर्ग्रन्थ पद अपनाया था।
परम जितेन्द्रिय हुए महामुनि आतमध्यान लगाया था।।
देह पार्श्ववर्ती जो देखे बाहर की कुछ सुधबुध नाहिं।
कमठ जीव जो भील हुआ था मारा तीर लगा तनमाहिं।।

हुआ समाधिमरण ग्रैवेयिक में अहमिन्द्र पदवी पाता है। पार्श्व...।।14।।

शुभभावों का दण्ड समझकर आत्मभावना दृढ़ करके।
नगर अयोध्या में जन्मा था सुर आयु पूरी करके।।
अहो ! अहो ! आनन्द, कुँवर थे महामांडलिक पद धारी।
श्वेत बाल लखते ही फिर भी मुनिपद की दीक्षा धारी।।
हुई भावना सोलहकारण, जगत जीव निज पद पावें।
निजस्वभाव आराधन करके, अविनाशी शिवसुख पावें।।
बँधी प्रकृति तहँ तीर्थङ्कर की जग को धर्मप्रदाता है। पार्श्व...।।15।।

ध्यानमग्न आनन्द मुनीश्वर को इक दिन वन में पाया।
कमठ जीव जो सिंह हुआ था क्रूरभाव धर तन खाया।।
देखो भावों की स्वतंत्रता, परम धर्म के जो कारण।
उन्हीं साधु को देख सिंह ने बैर विचारा दुखकारण।।
मुनिवर स्वर्ग सोलवें पहुँचे सिंह नरक में जाता है। पार्श्व...।।16।।

छह महिना पहले काशी में रत्न सुरों ने वर्षाये।
कलि वैशाख द्वितीया के दिन वामा माता उर आये।।
देवों ने अति उत्सव कीना हर्षित सारा जगत हुआ।
पौष कृष्ण एकादिश को फिर पार्श्वप्रभु का जन्म हुआ।।
उदासीन गंभीर ज्ञानमय बचपन भी सुखदाता है। पार्श्व...।।17।।

इकदिन वन में इक तपसी को लक्कड़ सुलगाते देखा।
नाग-नागिनी का जोड़ा था उस लक्कड़ अंदर बैठा।।
करुणापूरित हृदय हुआ तपसी को सहज बताया था।
किन्तु कमठ का जीव तपस्वी सुनकर अति गुर्राया था।।
लक्कड़ फाड़ा क्रोधभाव से, नाग नागिनी तड़फ रहे।
सम्बोधन पाकर प्रभुवर का शान्तभाव से देव हुए।।

लौटे घर को किन्तु प्रभु का मन उदास हो जाता है।
पार्श्वप्रभु की जीवन गाथा सबको आनन्द दाता है।।18।।

इक दिन राजसभा में बैठे आया दूत अयोध्या का।
नाम अयोध्या का सुनते ही हुआ ध्यान आदीश्वर का।।
काललब्धि दीक्षा की आई चित्त में गाढ़ विराग हुआ।
लौकान्तिक देवों का अनुमोदन अति ही सुखकार हुआ।।
तत्क्षण इन्द्र स्वर्ग से आकर तप कल्याण मनाता है। पार्श्व...।।19।।

ध्यान मग्न थे पार्श्व मुनीश्वर संवरारि उपसर्ग किया।
सात दिवस तक क्रोधभाव से व्यर्थ स्वयं को खिन्न किया।।
हारा बैर अरे दश भव का, क्षमा भाव ने जय पाई।
आ धरणेन्द्र उपसर्ग निवारा केवल लक्ष्मी प्रगटाई।।
समवशरण में अन्तरीक्ष प्रभु अर्हत् रूप सुहाता है। पार्श्व...।।20।।

ध्वनित हो रही दिव्यध्वनि थी अद्भुत तत्त्वमयी सुखरूप।
सुनकर भव्यजीव आनन्द में समझ रहे थे शुद्ध चिद्रूप।।
कोई धन्य भाग्य तो तत्क्षण मुनिपद की दीक्षा लेते।
कोई सम्यग्दर्शन पाते, कोई के श्रावक व्रत होते।।
कमठ जीव भी शान्तचित्त हो सम्यकदर्शन पाता है। पार्श्व...।।21।।

देखो भावों की विचित्रता भ्रात ! दीनता छोड़ दो।
आनन्दमय निवृति पथ में स्वयं-स्वयं को जोड़ लो।।
नहीं कोई है संगी साथी, भोगों का सुख कल्पना।
शांतचित्त हो साधो निजपद, लाओ अन्य विकल्प ना।।
अहो-अहो निर्द्वन्द्व आत्म आराधन ही शिव दाता है। पार्श्व...।।22।।

बालयती श्री पार्श्व प्रभो सम्मेदशिखर से मोक्ष हुआ।
क्षमा भाव अरु ब्रह्मचर्य का इक आदर्श प्रसिद्ध हुआ।।

भाव विभोर हुआ चरणों में नमन करूँ त्रिभुवन नामी।
ब्रह्मचर्य निर्दोष पूर्ण हो यही भावना है स्वामी।।
परमब्रह्म शाश्वत् परमातम, बाहर कुछ न सुहाता है।
पार्श्वप्रभु की जीवन गाथा सबको आनन्द दाता है।।23।।
सर्व समर्पण हो स्वभाव में निर्विकार निर्ग्रन्थ रहूँ।
निर्वांछक निर्भय जीवन हो स्वयं स्वयं में तृप्त रहूँ।।
निजानन्द रस का आस्वादी, पर दुर्वेदन में असमर्थ।
निश्चय हुआ सधेगा निज में निज से ही मंगल मोक्षार्थ।।
बस हो बहुत कथन से भाई ! अपना भाव सु ज्ञाता है। पार्श्व...।।24।।

श्री पार्श्वनाथ स्तुति

पारस प्रभु की छवि सुखकारी, वीतराग मूरत मनहारी।।टेक।।
पद्मासन अरु नासा दृष्टि, धर्मामृत की करती वृष्टि।
अद्भुत मुद्रा है हितकारी, पारस प्रभु की छवि सुखकारी।।१।।
निरखत परमानन्द उपजावे, भेद-ज्ञान उर में प्रगटावे।
सब संक्लेश मिटें दुखकारी, पारस प्रभु की छवि सुखकारी।।२।।
प्रभु की महिमा कैसे गावें, इन्द्रादिक भी पार न पावें।
चरित नाथ का मंगलकारी, पारस प्रभु की छवि सुखकारी।।३।।
मन में जिनवर यही भावना, करें आप सम आत्मसाधना।
साम्यभाव हो मंगलकारी, पारस प्रभु की छवि सुखकारी।।४।।
चित्त मलिन नहीं होने पावे, निरतिचार संयम प्रगटावे।
प्रभु चरणों में ढोक हमारी, पारस प्रभु की छवि सुखकारी।।५।।
ऐसा निश्चल ध्यान लगावें, कर्म कलंक समूल नशावें।
पंचमगति पावें अविकारी, पारस प्रभु की छवि सुखकारी।।६।।
दिव्य-शान्तिमय तीर्थ आपका,परमशान्त है तत्त्व आपका।
हो प्रभावना मंगलकारी, पारस प्रभु की छवि सुखकारी।।७।।

– ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्'

➤ हमारे प्रकाशन ➤

चौबीस तीर्थंकर पुराण	(हिन्दी)	75/-
चौबीस तीर्थंकर पुराण	(गुजराती)	50/-
शिवपुर के राही (मल्टीकलर)	(श्री कानजीस्वामी का जीवनदर्शन)	50/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-1	(लघु कहानियाँ)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-2	(सगर चक्रवर्ती, वज्रवाहु, सुकौशल)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-3	(ब्रह्मगुलाल, अंगारक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-4	(श्री हनुमान चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-5	(श्री पद्म (राम) चरित्र)	25/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-6	(अकलंक-निकलंक नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-7	(अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-8	(8 अंग और 5 अणुव्रतों की कथा)	20/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-9	(शासन नायक श्री वर्द्धमान चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-10	(सुभौम चक्रवर्ती, अमरकुमार नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-11	(सती अनंगसरा,निमित्त-उपादान नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-12	(बालि मुनिराज,महारानी चेलना नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-13	(यशोधर मुनिराज, धन्यकुमार कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-14	(नाटक-राजा श्रीकंठ, पुण्यप्रकाश...)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-15	(बंधुश्री एवं लुब्धक सेठ)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-16	(सती मनोरमा एवं पं. टोडरमल नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-17	(प्रद्युम्नकुमार,जयकुमार,सूर्यमित्र कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-18	(सेठ सुदर्शन, दीवान अमरचंद नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-19	(षट् लेश्या, श्री जीवंधर चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-20	(श्री वरांग चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-21	(श्री गुरुदत्त चरित्र,सम्यक्त्वलीला नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-22	(श्री सुकमाल चरित्र, मृगध्वज कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-23	(श्रीकृष्ण, चंदनवाला कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-24	(उपसर्गजयी संजयंतमुनि, राजा श्रेणिक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-25	(कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य कुन्दकुन्ददेव)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-26	(बाईस परीषह : संवाद के रूप में)	30/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-27	(तू किरण नहीं सूर्य है)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-28	(लघु कहानियाँ, एकांकी नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-29	(भरत से भगवान : एक जीवनयात्रा)	20/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-30	(भगवान पार्श्वनाथ चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-31	(भगवान नेमिनाथ चरित्र)	20/-

हमारे प्रेरणा स्रोत : ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

जन्म
ई.सन् १९२४
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

देहविलय
८ दिसम्बर, १९८७
पौष वदी ३, सोनगढ़

सत्समागम
ई.सन् १९४३
अषाड़ सुदी दोज
राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा
ई.सन् २२.२.१९४७
फागण सुदी १
(उम्र २३ वर्ष)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की 19 वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने 32 वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से इस प्रकार करते थे-

''मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखने वाला नहीं मिलेगा...।''

आपने अपने जीवन में करीब 150 पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण**–इसे आपने 80 पुराणों एवं 60 ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान (छहढ़ाला प्रवचन, भाग 1 से 6), सम्यग्दर्शन (भाग 1 से 8), अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, मूल में भूल, अकलंक-निकलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनके बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **''मैं ज्ञायक हूँ...मैं ज्ञायक हूँ''** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ-यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।